श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

आत्मानुशासन प्रवचन

छठा भाग

प्रवक्ता :—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स,
संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी—
श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	,,	सेठ भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	जगाधरी
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जीजैन,	ज्वालापुर
१३	,,	सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर	मेरठ
१७	,,	मन्त्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सर
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जैन, संघी,	जयपुर

२२	श्रीमान्	मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, जैन	गिरिडीह
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,,	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२९	,,	दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर,	कानपुर
३०	,,	मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	,,	संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी,	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,,	मक्खनलाल शिवप्रसादजी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,,	मोल्हड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,,	दिगम्बर जैनसमाज गोटे	गाँव
३९	,, ❀	गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
४०	,, ❀	बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	झूमरीतिलैया
४१	,, ❀	इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४२	,, ❀	सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या,	जयपुर
४३	,, ❀	बा० दयाराम जी जैन, आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
४४	,, ❀	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४५	,, ×	जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
४६	,, ×	जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट.—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥ ५ ॥

❁ जैन धर्म की जय ❁

आत्मानुशासन प्रवचन छठा भाग

[प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज]

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलय निधाय हृदि वीरम् ।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥मं०॥
सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।
सुखं सकलसन्न्यासो दुःख तस्य विपर्ययः ॥१८७॥

सुखकी परम्परा—जो जीव यहाँ सुखी हैं वे भविष्यमें परलोकमें भी सुखी रहेंगे और जो यहाँ दुःखी हैं वे परलोकमें दुःखी रहेंगे, ये वचन सुनकर कुछ मनमें जिज्ञासा उत्पन्न होती होगी, यह क्या बात है ? जो यहाँ मौजमें है, वह आगे भी सुखी रहेगा क्या यह बात है ? जो बड़े संयम से रहे, मितव्ययितासे रहे, सादगीसे रहे, परिश्रम करके खाये तो ऐसा दुःखसे अपना जीवन गुजारने वाला क्या आगे भी दुःखी रहेगा । क्या अर्थ है ? इसका भाव यह है कि जो वास्तविक मायनेमें सुखी है, निराकुल है, प्रकाशमें है, जिसके विह्वलता नहीं है, क्षोभ नहीं है, जो वास्तविक पद्धतिसे सुखी है वह पुरुष आगे भी सुखी रहेगा, और जो दुःखी है क्लेश मानता है, संक्लेश करता है, आकुल व्याकुल रहता है वह आगे भी दुःखी रहेगा । सुख नाम है समस्त परपदार्थोंका त्याग करके, विकल्प छोड़कर अपने आपके दर्शनसे तृप्त रहना, संतुष्ट रहना इसका नाम है सुखी होना । जो इस प्रकार परसे उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूपसे तृप्त रहकर सुखी रहता है उस सुखकी ऐसी परम्परा चलती है, संतति चलती है कि वह मरकर भी परलोकमें सुखी रहेगा ।

दुःखकी परम्परा—दुःख नाम है बाह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेका, परिग्रहण करनेका, विकल्प रखनेका । परमें मोह करना, परके लिए अपने तन, मन, धन, वचन लुटा देना, अपने महत्त्वका गौरव ही कुछ न रखना सब कुछ परिजनोंके लिए है ऐसा भाव रखकर अपने आपको कुछ मानना ही नहीं, तुच्छ समझना, जो कुछ सुख है वह इन दूसरोंके द्वारा ही दिया हुआ रहता है इत्यादिक क्षोभोंसे जो जीव यहां भी दुःखी हैं, संक्लेश करते हैं, चाहे तपश्चरण कर रहे हों लेकिन उनके अन्तः खेद बना रहता है । वे ऐसा ही तपश्चरण करेंगे कि खेद भी मानते जा रहे, व्रत नियमके बोझसे भी सताये जा रहे हैं, संक्लेश कर रहे, वास्तवमें ऐसे व्यक्ति सुखी नहीं हैं बल्कि दुःखी हैं । उस दुःख क्लेश संक्लेशके फलमें ऐसे कर्मोंका बंध होता है कि वे भावीकालमें भी दुःखी रहेंगे । लोग विषयसुखोंसे

लेकिन इन विषयसुखोंमें कितनी पीड़ा है, कितना सताप है ? कितना अपने आपको रागद्वेषकी आगमें झोंकते और जलाते चले जा रहे हैं।

विषयसुखकी अहितरूपताका निर्णय--भैया ! एक निर्णय बनावो कि वे विषय सुख सारेके सारे क्लेश ही उत्पन्न करने वाले हैं। काम सुख— एक व्यर्थकी कल्पना हुई, वेदना हुई जो बुखार खासीकी तरह वास्तविक वेदना नहीं है, वह तो एक मनकी उद्दण्डता है। मनकी उद्दण्डता करके कामकी वेदना बनी, उससे ही पीड़ित होकर यह विषय सुखोंको अनुभवता है। वहा भी देखो तो आदिमें क्लेश, पराधीन बने, कायर बने। कितने प्रकार की वहां यातनाएँ होती हैं और फिर क्षणिक विषय सुखके कारण सारा जीवन चिन्ता शल्य परवशतामें रहकर अज्ञान, मोह अधेरेमें बिताना पड़ता है। रसना इन्द्रियका सुख—अरे जहां जीभके नीचे कोई चीज उतर गयी उसके बादमें फिर कहा उस वस्तुका स्वाद रहा ? जरासा जीभकी नोकपर रखतेसमयका सुख है, ऐसे क्षणिक मौजके लिए जीव अनेक प्रकारके साधन बनाता है और कष्ट पाता है। और फिर उस स्वादका लोभी होने के कारण कर्म बंध किया। वर्तमानमें भी थोड़ी ही देर बाद क्लेश सहेगा। काहेका सुख है ? किसी भी प्रकारका विषय सुख हो वह दु खका ही साक्षात् रूप है।

ज्ञानित्व व अज्ञानित्व—ज्ञानी और अज्ञानी किसका नाम है ? जो विषय सुखोंके प्यासे हैं उन्हें तो अज्ञानी कहते हैं। जिनके विषय सुख की प्यास नहीं है, यथार्थ ज्ञाता द्रष्टा रहकर आत्मगृहवास निरखकर तृप्त रहाकरते हैं वे ज्ञानी जीव हैं, सुख ज्ञानियोंको होता है, ऐसे सुखकी बात है कि जो सुख आगे भी रहेगा और जो दु खी है वह आगे भी दु'खी रहेगा। जो ज्ञानसे बहिर्मुख है, अज्ञान सतापके सताये हुए हैं वे सभी पुरुष दु खी हैं और ऐसे दु खी लोग भविष्यमें भी दुःखी रहेंगे। अहितकारी ये दो ही तो परिणाम हैं— व्यावहारिक विषय और कषाय। और मूल आधार से देखा जाय तो मोह, यही एक क्लेशकारी है।

कर्म प्रेरणापर एक दृष्टान्त— अहो, कैसी पराधीनता है ? कुछ बुद्धि जगी, ज्ञान बना तो यह सारी बातें कह लेता है और कहनेके बाद भी यह जीव अपने अपने अवसरमें, जैसे जैसे उदयकी आधीनता होती है यह जीव विचारोंसे फिसल जाता है। जैसे पिंजड़ामें बद सुवाको कोई कितना ही रटा दे कि पिंजडेसे बाहर न भागना, भागना तो नलनीपर आकर न बैठना, बैठनातो दाने चुगनेकी कोशिश न करना, दाने चुगना तो उलटन जाना, उलट जाना तो नलनी को पकडे न रहना। ये पाठ याद कर लिया

उस पिंजड़ेमें बंद तोतेने। मौका पाकर वह पिंजड़ेसे निकलकर भाग गया, नलनी पर बैठ गया, दाने चुगने लगा, उलट भी गया, सारी क्रियाएँ कर रहा है फिर भी उस नलनीमें लटका हुआ पाठ यही पढ़ रहा है। भागना नहीं, भागना तो नलनी पर बैठना नहीं, बैठ जाना तो दाने न चुगना, दाने चुगना तो नलनीमें उलट न जाना, उलट जाना तो उस नलनीको छोड़कर उड़ जाना, ऐसा पाठ भी वह सिखाया हुआ तोता पढ़ता जा रहा है और उस नलनीमें लटका हुआ उसे मजबूती से पकड़े है, सोचता है कि यदि मैं छोड़ दूँ तो कहीं मर न जाऊँ।

कर्म प्रेरणा—भैया! यों ही व्यामुग्ध जीवोंकी भी बात है। एक ज्ञान का पाठ अदा करते हैं, पढ़ते जाते हैं, बोलते जाते हैं— आत्मके अहित विषय कषाय। इनमें मेरी परिणति न जाय॥ चाव लगा है ना, चलो भगवानकी पूजा करें, ठीक है, मिलकर करें, पुरुष स्त्री दोनों एक साथ खड़े होकर पूजा कर रहे हैं। अब भीतरमें भी वासना बसी है, हम दोनों मिल कर कर रहे हैं- यह तो प्रीति निभानेके जैसे दसों अनेक उपाय घरमें हैं ऐसे ही एक यह उपाय पूजनका है। फल चढ़ायेंगे तो लौंग रख लेंगे अपनी रकाबीमें और उसे दे देंगे बढ़िया बादाम। यह पूजा पता नहीं स्त्री की हो रही है कि भगवानकी हो रही है। जिसमें चित्त है, जिसमे प्रेम है, जिसमें भक्ति है उसकी पूजा हो रही है, बल्कि स्त्रीके प्रेमकी वजहसे यहाँ भगवानकी पूछ हो रही है, नहीं तो क्या जरूरत है? वहा तो अपना दिल रमाना है सो यह भी एक बात हो रही है। ऐसे ऐसे अनेक प्रसंग हैं- खूब बोलते हैं- आत्मके अहित विषय कषाय। इनमें मेरी परिणति न जाय॥ और उन्हीं विषय कषायोंको करते जाते हैं, बोलते जाते हैं। यह मोह एक विकट अंधेरा है।

अज्ञानियोंकी अपरिहार्य मोहव्यवस्था—अहो कैसी व्यवस्था बनी है मोहकी? उस व्यवस्थाके तोड़नेका आन्दोलन भी नहीं कर सकते। जो बनी है व्यवस्था सो ही है। यह ही मेरा घर है, इतना ही परिवार है मेरा। इतना ही वैभव है मेरा ऐसी-ऐसी वासना सहित मोहकी व्यवस्था बनी है। मानो उन कुटुम्बीजनोंके ही तो जान है, और लोगोंमें तो थोड़ी बहुत जान होगी। कुछ महत्व नहीं है अन्य जीवोंका। जो कुछ बड़प्पन है, यश चाह है, कुछ भी बात है वह अपने मोहके विषयभूत परिजनके लिए है। जहाँ मोह है, रागद्वेष है, क्षोभ है वहाँ सुख काहेका? शान्ति तो नहीं है।

शान्ति व अशान्तिकी संतति— जिसके यहां अशान्ति है उसके अशान्तिकी धारा बह जायगी, अगले लोकमे भी अशान्त रहेगा। जिसके यहा शान्ति है उसकी संतति भी चलेगी, वह आगे भी शान्त रहेगा। विषयसुख सुख नहीं कहलाते। जहां तृष्णा है वहा क्लेश ही है। वह तो

दुःख ही है। दुःखका फल दुःख है। जिन्हींके विषय सुखोंकी सामग्री अधिक है, तृष्णा थोड़ी है, नहींके बराबर है तो वह वहां सुखी रह सकता है। रंक पुरुषोंके विषयसाधन कुछ भी नहीं हैं किन्तु उनके तृष्णा बनी है, उनमें चित्त बना तो वे दुःखी रहा करते हैं। इसलिए विषय सुख सुख नहीं हैं, उसकी बात यहां नहीं कही जा रही है। जो वास्तविक सुखी है वह भावीकालमें भी सुख पायेगा और जो दुःखी है वह भावीकालमें भी दुःख पायेगा।

मृत्योर्मृत्यन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम्।
तत्र प्रमुदितान्मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिन ॥१८८॥

उत्पत्तिकी खुशी अथवा मरणकी खुशी—लोग प्राणियोंके जन्म होने पर बड़ी खुशी मनाते, बड़ा प्रमोद करते हैं। क्या किया उन्होंने ? किसी प्राणीके जन्म होने पर सुख माना। भला यह बताओ कि जन्म होना और मरण होना ये कोई अलग-अलग बातें हैं क्या ? मरण होनेका ही नाम जन्म है। जिस क्षणमें मरण है उसी क्षणमें जन्म है। एक भवका मरण है तो दूसरे भवका जन्म है। तो जन्ममें भला मानना इसका अर्थ क्या यह नहीं हुआ कि मरणमें भला माना ? मरण और जन्म अलग-अलग चीजें तो नहीं हैं। मरण होनेसे एक मरणसे अन्य मरणकी प्राप्ति होना है, इस निर्णयका ही नाम उत्पन्न होना है। तो जो उत्पन्न होनेमें प्रमोद करते हैं हम तो समझते हैं कि वे पिछली बातोंके पक्षपाती हैं। अर्थात उन्होंने मरणमें ही भला माना है। पुत्र आदिकका जन्म होता है तब लोग बड़ा हर्ष मनाते हैं और जब वह मरता है तब उनके शोक हो जाता है। जन्म नाम है काहेका ? जो जन्मा है उसे नवीन मरण भी तो मिलेगा।

प्रतिक्षण मरणका नाम जीवन—अब दूसरी दृष्टिसे देखिये— आयुनाशका नाम मरण है। और ऐसा मरण तो प्रति समय हो रहा है। जितना समय गुजरा उतना ही उसका मरण है। आवीचिमरण तो निरन्तर होता रहता है। जिन्दा रह रहे हैं इसका अर्थ यह है कि हम नया-नया मरण पा रहे हैं। क्योंकि, प्रति समयमें नवीन-नवीन आयुका निषेक खिरता है। प्रति समय मरण हो रहा है। तो प्रति समय मरण होनेका ही नाम जिन्दा रहना है और पूर्वभवका मरण छूटकर नये भव के मरणका ताता लग जाना इसीका नाम जीवन है। लोग यों कहते हैं कि हम जिन्दा बने चले जा रहे हैं और अर्थ उसका यह है कि हम प्रति समय मरते चले जा रहे हैं, इन दोनों बातोंमें रंच भी फर्क नहीं है। बहुत बढ़िया फिट बैठनेकी बात यह है कि हम प्रति समय मरते चलेगा जा रहे हैं। जिन्दा नाम काहेका ? आयुका उदय हो, इसका अर्थ क्या है ? आयु निकल रही है इसका

अर्थ है मरण हो रहा है। सूर्य निकला अर्थात् सूर्यका उदय हुआ, हम आयुके उदयसे जीवित रहते हैं, इसका अर्थ यह है कि हम आयुके उदयके कारण प्रति समय मरणकी संतति बनाये रहते हैं। मरणमें अन्तर न पडे नहीं तो जिन्दा नहीं रह सकते। मरणका तांता बराबर चलता रहे इसीके मायने हैं मनुष्यकी जिन्दगी।

नव्य मरणकी खुशी—भैया! मोटे रूपमें यों समझ लीजिए कि मनुष्य जीवनका जो समय निकल गया वह समय फिर लौटकर आता है क्या? प्रत्येक समय निकलनेके लिए ही तो आ रहा है, ठहरने के लिए नहीं आ रहा है। समय निकलने के ही मायने हैं मरणका होना। इसे कहते हैं रोजका मरण, आवीचिमरण। तो पूर्वभवका मरण मिटे और नये भवका मरण शुरू हो, इसीके मायने जन्म है। ये जीव जन्ममें खुशी मनाते हैं इसका अर्थ यह है कि उसके नये भवके मरणकी खुशी मना रहे हैं। पहिले भवके मरणसे निपट गये, अब इस भवके मरणमें इसका नम्बर आया, उसकी खुशी है।

ज्ञानीके धैर्यका कारणभूत विचार—ज्ञानी पुरुष समस्त विचार मूलसे यथार्थ रक्खा करते हैं जिसके कारण ये निराकुल और प्रसन्न रहते हैं। जो हो उसके ज्ञाताद्रष्टा रहिये। कोई मेहमान आया कोई मेहमान गया, यही तो हो रहा है। कोई जीव घरमें आया कोई जीव गया, यही तो हो रहा है। किसी मेहमानको भेजनेमें आपका घंटा आध घंटेका ही तो समय खराब होगा। जब जानेका टाइम हुआ तब पहुंचा आये। ऐसे ही कोई मेहमान बिलकुल जाय तो घंटा दो घंटा उसमें लगता होगा, भेज आये। किसी मेहमानको स्टेशनपर भेज आये, किसी महिमानको श्मशान भेज आये। दो एक घंटा वहां लगता है दो एक घंटा यहां लगा दिया। अब रही रंजकी बात, सो यह अपनी-अपनी मूढता और कल्पनाओंकी बात है। कर रहे हैं। बैठे हैं, शोक मना रहे हैं और महिलावोंमें तो महीने दो महीने शोक मनानेकी प्रथा है। शोक मना रही हैं। हृदयमें न भी शोक हो तो जबरदस्ती शोककी मुद्रा बना रही हैं। बिना रंजके भी आंखोंसे पानी निकाल लेना यह भी अपनी बड़ी कला है यह कला भी हर एकसे नहीं याद रह सकती है। शोक हो तो शोक, न हो तो शोक कोई क्या कहेगा। इतनी जल्दी मंदिर आने लगी, तो ये सब भारी विडम्बनाकी बातें हैं। दर्शन करने आना भी बंद कर दिया शास्त्र सुनना भी बंद कर दिया। अरे वह शोक मानना क्या मंदिर आने और शास्त्र सुनने आदिसे भी बड़ा भारी काम है।

क्लेशका निबन्धन—जो लोग किसी जीवके जन्ममें खुशी मनाते हैं

सैद्धान्तिक दृष्टिसे देखें-हुआ क्या वहां ? पूर्वभवके मरणका ताता समाप्त करके नये भवके मरणका ताता शुरू किया है। इसीके मायने हैं मरण। तो उसके मरणके तातोंकी खुशी मना रहे हैं। जो जितना परसमागममें आसक्त रहेगा, कल्पनाएँ करके सुख मानेगा वह उतना ही अधिक दुःखी होगा, क्योंकि सुख तो सदा किसीका नहीं रहता है। ये पराधीन सुख, वैषयिक सुख, परिग्रह जन्मसुख ये सब तो किसीके सदा नहीं रहते हैं। अब जो इनमें आसक्त हुआ है वह वियोगमें अधिक दुःख मानेगा। और जो संयोगके समय भी उदासीन भावसे रहा है, उपेक्षा भावसे रहा है वह दुःख न मानेगा।

ज्ञान, सन्तोष और कर्तव्य—सुखी होना, शान्त होना यह अपने ज्ञानपर निर्भर है, किसी अन्य जीवपर या अन्य परिग्रहपर निर्भर नहीं है। भेदविज्ञान करो और परिजनोंका भी श्रद्धामें उतना ही महत्त्व समझो जितना महत्त्व सर्वजीवोंका है। जो स्वरूप सबका है वही परिजनका है। जैसे भिन्न सब हैं वैसे ही भिन्न ये हैं। यथार्थ श्रद्धा रहे तो निराकुलता रहेगी। वस्तुतः कुछ करना पड़े, यह बात तो गुजर रही है, पर अन्तः संतोष मिलेगा तो आन्तरिक श्रद्धाके होनेसे ही मिलेगा। इससे किसी भी घटनामें हम शोक करने की प्रकृति न बनायें। परपरिणतियोंके हम ज्ञाता द्रष्टा रहें, यह भी ऐसा हो रहा है ठीक है, यह भी ठीक है। ऐसे विशुद्ध आशयमें ही हम आप सुखी रह सकते हैं। और जो सुखी शान्त रहेगा उसकी संतति ऐसी चलेगी कि भविष्यमें भी वह सुखी शान्त रह सकेगा।

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो,
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम्।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः,
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥१८९॥

नामकी चाहसे श्रुत और तपकी व्यर्थता—साधुजनोंको उपदेश करनेके लिए बनाये गए इस ग्रन्थमें श्री गुणभद्र आचार्य कहते हैं कि साधो! समस्त श्रुतका अध्ययन करके भी और चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके भी यदि उस ज्ञानके और तपके फलमें लाभ पूजा आदिक तुम चाहते हो तो तुमने तपश्चरण रूप वृक्षके फूलको ही छेद डाला, तोड़ डाला, अब उसके फलमें देवगति समान अथवा मुक्ति समान जो उत्कृष्ट फल है उसे तुम कैसे पावोगे ? जैसे कोई पुरुष वृक्ष फले और उसी समय उन फूलोंको लाठियोंसे झाड़कर गिरा दे तो वह फल कहाँसे पायगा ? ऐसे ही ज्ञान प्राप्त करके और घोर तपश्चरण करके उन ज्ञान और तपश्चरणके फलमें यह पूजा प्रतिष्ठा चाहने लगे तो उस फलसे वंचित ही रहेगा।

गुणमलब्ध प्रतिष्ठासे भी विरक्तिकी आवश्यकता—यह पुरुष साधु बन-कर, परिग्रहत्यागी होकर तपश्चरणमें लगता है, ज्ञानार्जन करता है तो यह प्राकृतिक बात है कि लोगोंका आकर्षण उस ओर होता है और साधुको लाभ पूजा प्रतिष्ठा ये सब प्राप्त होते हैं। लेकिन यदि वह इसमें संतुष्ट हो जाय, उसने जो ज्ञान पाया अथवा तपश्चरण किया उसके फलमें उसे सब कुछ मिल रहा है। इनमें ही वह तृप्त हो जाय तो उस ज्ञान और तपश्चरणसे भावीकालमें होने वाला जो उत्कृष्ट चमत्कार है उससे हाथ धो बैठेगा। इस कारण हे साधो! अपनेको प्रमादरहित बना। चित्तको सावधान कर। यह सारा जगत मायाजाल है। यह आज यहां है, कल कहीं होगा, जो कुछ दिखता है वह सब भी विनश्वर है। तुम कहां दृष्टि डाल रहे हो?

सब जीवोंमें नाम प्रतिष्ठाकी अत्यन्त असंभवता—देखो भैया! यदि नाम चाह रहे हो, यश चाह रहे हो तो यह तो बतावो कि तुम कितने जीवोंमें यश चाहते हो? क्या १०० जीवोंमें? हां चाहे पहिले कह दें पर थोड़ी देर बाद यही कहोगे कि इतनेसे क्या है? हजारमें नाम हो। अच्छा, हजारमें संतोष हो जायगा क्या? आखिर यह कहोगे कि सब जीवोंमें हमारा यश फैले तब तो बात है। थोड़ा लाख दो लाखमें फैल गया तो इनके सिवाय तो बाकी बहुत बचे। कई गुणे अधिक बचे। कितने गुणे बचे? अनन्त गुणे बचे। खाली मनुष्योंकी बात नहीं कह रहे हैं— आखिर जीव तो सब हैं। सबमें नाम फैले तब तो ठीक है, नहीं तो इन थोड़े याने सब जीवोंके अनन्तवें भागमें क्या नाम चाहा जाय। तू इसे भी मूलसे मिटा दे। हठी बनता है ना। अच्छा हठी बनो। जैसे बच्चोंमें हठ होती है। खायेंगे तो यह खायेंगे नहीं तो भूखे रहेंगे ऐसे ही यहां हठ बना लें। अरे फैलाना हो तो सब जीवोंमें फैलावो। यह क्या थोड़ेसे लोगोंमें अपना यश फैलानेकी चाह करते हो। अरे ये थोड़ेसे लोग यदि न जान पायेंगे तो हर्ज क्या है।

अत्यल्प क्षेत्रमें प्रतिष्ठाव्यामोहकी निन्द्यता—अच्छा यह बतावो कि तुम कितनी दूर तक अपना नाम चाहते हो? क्या ५ मील तक? क्या १०० मील तक? क्या हजार मीलकी सीमा तक? अरे नहीं, यशका अभिलाषी तो यही कहेगा कि सारे लोकमें मेरा नाम फैले। हां यदि सारे लोकमें नाम फैलाना चाहते हो तब तो ठीक है, लेकिन इस समस्त लोकमें असंख्यातवें भागमें जरासी जगहमें यदि अपना नाम फैलाना चाहते हो तो उससे क्या लाभ है? अरे यश फैलावो तो सारे लोकमें फैलावो, नहीं फैल सकता हो तो उतनेको भी मना कर दो, इतना भी न चाहिए। क्या धरा है इतनेमें?

अत्यल्प कालकी प्रतिष्ठाव्यामोहकी निन्द्यता--अच्छा बतावो कितने दिनों तकके लिए नाम चाहते हो ? १० वर्ष क्या ठीक रहेंगे ? नहीं १०० वर्ष तक। हमेशाके लिए, अनन्तकालके लिए। अच्छा ठीक है। अनन्तकाल तक यश फैले तो उस यशकी चाह करो और जो १००, ५० वर्ष तक ही रहे उस यशकी क्या चाह करते ? एक कहावत है- गाँज वरे पूरनको देखो। घासके पूरा होते हैं। जितना इकट्ठा एक बंधा हुआ घास होता है उसे कहते हैं पूरा। पूराका गाज लगा है। समूह जिसे कहते हैं। जैसे मिलेटरी वाले ३ खण्डके मकानसे भी ऊँचा गाज लगा देते हैं, ऐसे गाजमें आग लग जाय। आग लगे तब तक पाव पसारे देख रहा है सो ऐसे वह गाज वर गया। अब कहीं कोई माव तोवका प्रसग आये तो पूरोंका लेखा करने लगे, हम तो ११ में १० पूरा देंगे, नहीं भाई ११ पूरा दो, यों उन पूरों का लेखा करने बैठे, और गाजमें लग चुकी है आग तो उम लेखा करनेसे क्या पूरा पडेगा ? ऐसे ही अनन्त कालमें सारे लोकमें सब जीवोंमें कहीं भी तो नाम नहीं होना, एक थोड़ेसे जीवोंमें थोड़े समयको थोड़ीसी जगह में और मायामयी पुरुषोंके द्वारा, मायामयी वचन, मायामयी यश उसकी क्या वाञ्छा करते हो ?

शुद्ध ज्ञातृत्वमें भलाई--भैया! कल्याण इसमें है कि शुद्ध ज्ञान बना रहे। ये सब विषयोंके साधन धोखेसे भरपूर हैं, ये सब बरबादीके लिए हैं। ये तोतले बच्चे ये सब परजीव हैं, अपनी-अपनी चेष्टायें कर रहे हैं, यहा यह मोही उनको देखकर खुश होता है। किसी दो वर्षके बच्चेको आप लोग यों भी तो खिलाते हैं कि ऊपर थोड़ासा उसे फेंक देते हैं और फिर उसे आप झेल लेते हैं। अब ऊपर जब आप फेंकते हैं तो वह बच्चा डरके मारे अपना मुँह फैला देता है। आप समझते हैं कि वह हँस रहा है, प्रसन्न हो रहा है, और आप उसे देखकर खुश हो जाते हैं। यह क्या है ? यह सब अपनी कल्पनाकी और अज्ञानकी चेष्टा है।

तपश्चरणके फलमें प्रतिष्ठाका अमोह--देखिये भैया! अब तक किसका यश रहा ? कौन जानने वाला है, कितनीसी बात है और कोई गुण भी गाये तो जो चला गया जीव उस जीवको उन गाये जाने वाले गुणोंसे क्या लाभ है ? हालांकि यह बात है कि जो सदाचारी होता है, ज्ञानी होता है, परोपकारी होता है वह यशस्वी बनता ही है, पर स्वयं वह यशकी ओर झुकाव करे, लाभ पूजाकी ओर झुकाव करे तो उसे इसमें कुछ तत्त्व न मिलेगा। उसने तो तपश्चरणरूपी वृक्षको ही छेद डाला। अब उसका फल देवगति मिलना अथवा मुक्ति मिलना यह कहासे हो सकता है ? परिणामोंकी बड़ी विचित्रता है जिसके उदयमें ऐसे विचित्र परिणाम

हो जाते हैं। एक बार किसी श्रावकने अपने मित्र मुनिके बाबत पूछा समवशरणमें महाराज ! इन मुनिराजकी क्या गति होगी, क्या परिणाम है, कैसी स्थिति है ? समाधान मिला कि अबसे आधामिनट पहिले तो उनका ऐसा परिणाम था कि वे ७वें नरक जाते और अब उनका ऐसा परिणाम है कि वह अहमिन्द्रदेवमें उत्पन्न होंगे। आधा मिनटमें ही देखिये इतना अन्तर आ जाता है। ज्ञान और तपश्चरण पास है तो हे मुनि ! इनके फलमें तू आत्मशान्ति और ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिति इन दो को ही स्वीकार कर, अन्य सबसे उपेक्षा भाव कर। यह मूलमें श्रद्धा की बात है। तू एक ही निर्णय रख। जाननेके लिए तू जितना पढ़ता है उसका ज्ञान तो जानते रहनेके लिए है। ज्ञानका फल जाननामात्र है।

व्यामोही जनोंका ईप्सित तप.फल—व्यामोहीजन ही इस ज्ञानका फल अन्य-अन्य कुछ चाहा करते हैं। तपश्चरणका फल आत्मशान्ति है। अज्ञानीजन तपश्चरण करके सांसारिक नाम पूजा प्रतिष्ठा लाभ आदिक की चाह करते हैं। इस चाहमें क्या रक्खा है ? यदि कोई प्रशंसा करने का भाव ही मनमें रखता हो और कोई प्रशंसा सुननेका ही व्यसन रखता हो तो उनकी यों कहानी है कि जैसे ऊँटका तो हो विवाह और गीत गाने के लिए बुलाये जायें गधे। तो गधे तो गायें—वाह ऊँटका कैसा सुन्दर रूप है और ऊँट गायें—वाह गधोंका कितना सुन्दर राग है ? दोनों ही एक दूसरेकी प्रशंसा सुनकर खुश होते हैं। यही हाल है इन संसारीजनोंका, सभी एक दूसरेकी प्रशंसा करके खुश हो रहे हैं।

विशुद्धिका अनुरोध—हे शान्तिके अभिलाषी जनो ! काम अपना कीजिए जड़ वैभवसे मूर्छा न रखिये, उनके ज्ञाताद्रष्टा रहिये। जो कुछ भी मिला है वह दूसरोंके लिए मिला है, खुदके लिए क्या मिला है ? खुद को तो डेढ़ पाव आटेकी रोटी और तन ढकनेके लिए दो कपड़े ही तो चाहिए ना। यह सबकी चर्चा चल रही है, कहीं आप लोग हमारे ही ऊपर न घटा लेना। भोजन और वस्त्रके सिवाय और क्या अपने उपयोग में आता है ? कोई कहे पान बीड़ी, तो वह तो उनकी स्वच्छता है। अपना काम विवेक बनाकर अपने आपमें बना लीजिए। इस जगतमें किसीसे भी कुछ न चाहिए। बस मैं आत्माको पिछानूँ, आत्मामें ही रत होऊँ, उसमें ही सन्तुष्ट होऊँ, इसीके लिए ज्ञान है, इसीके लिए तपश्चरण है। ऐसा परिणाम रक्खोगे साधुजनों ! तो अवश्य ही कल्याण होगा।

तथा श्रुतमधीत्य शश्वदिह लोकपक्तिं बिना,
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः।

कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान् ॥
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः ॥१६०॥

ज्ञानलाभका अभीष्ट फल—हे साधो ! शास्त्रोंका अध्ययन करके यदि लोकयशकी चाह बिना तुम तपश्चरण द्वारा इस शरीरको भी सुखा रहे हो और विषय कषायोंके वैरियोंपर तुम विजय प्राप्त कर रहे हो तो ठीक है, करो। यह समता, यह शान्ति, यह विभावोंका उपशम ये ही तो शास्त्रज्ञान और तपश्चरणके फल हैं। यदि शास्त्रज्ञान केवल लोकदिखावन के लिए है अथवा लोग मेरे बारेमें कुछ दो शब्द कह दें, या मानलो इसके लिए ही यह ज्ञान है तो हे विवेकी पुरुष ! तू जरा अन्तर तो देख, तू ने क्या किया ? जैसे कोई सुन्दर पुष्ट फलाशील हाथी पाकर उस पर ईंधन ढोवे अथवा बर्तन मलनेके लिए चन्दनकी लकड़ी जलाकर उसकी राख बनाकर काममें ले तो उसे कौन बुद्धिमान् कहेगा ? ऐसे ही उत्कृष्ट चमत्कारमय ज्ञानको प्राप्त करके यदि इसके फलमें इन असार बातोंकी कल्पना जगे, देख लो यदि भ्रममें तू किसी विषयमें यदि चतुर है तो क्या तेरे मनमें यह भाव उत्पन्न होता है कि ये लोग मेरी चतुराई समझ जायें ? यदि ऐसा भाव होता है तो धिक् है। यह तो लौकिक बात है। संसारके संकटोंसे निवृत्त कराने वाले, मोक्षमार्गमें पहुंचने वाले ज्ञानको पाकर भी यदि तुम ज्ञानके फलमें धूल राख मांग ली, लोग कुछ समझ जायें, लोग मेरा बड़प्पन समझ जायें, ऐसी बातोंमें ही यदि पड़ गए तो उससे क्या लाभ रहा ? अज्ञानी जन ऐसा सोचते हैं।

दुनियाको रिझानेका आशय—देखो शरीर बल वाले दूसरोंको अपनी बलवत्ता जाहिर करानेके लिए पूरा बल लगाकर बलसे भी अधिक काम करके दिखाना चाहते हैं। लोग जान जायें कि यह बहुत बलशाली है ऐसा ही जिन्हें दुनियाको अपना ज्ञानीपन जाहिर करना है। लोगोंसे ज्ञानीपनकी प्रशंसा चाहते हैं तो पूरा बल लगाकर संस्कृतकी प्राकृतकी और और भाषावोंकी झड़ी लगा देते हैं— चाहे श्रोतावोंकी समझमें कुछ आये चाहे न आये, यह इसलिए करते हैं कि जिससे लोग जान जायें कि यह विद्वान् है। यह सब क्या है ? चन्दनकी लकड़ीको जलाकर उसकी राख बनाकर काममें लेनेकी तरह है। यदि ज्ञान पाकर तपश्चरण करके इसके फलमें ख्याति पूजा लाभकी चाह करता है तो यह तो तेरे अनर्थकी बात है। तू यदि ऐसा करता है तो, तू अभी लोककी पंक्तिमें ही बैठा हुआ है। अलौकिकता कुछ नहीं आयी। और, ऐसी स्थितिमें शरीरका शोषण किया वह भी व्यर्थ। लाभ भी न मिला और जीवनभर शरीरको भी सुखाया। उनकी गति तो दयनीय है।

लक्ष्यकी दृढ़ताका अनुरोध—हे साधो ! देख अपना उद्देश्य, अपना लक्ष्य निर्मल बना। तेरे पर अन्तरङ्गके संकट आते हैं तब भी, बहिरङ्गके संकट आते हैं तब भी तू उन संकटोंके भावोंके और अधिक भीतर अन्तरङ्गमें, अपने आपमें इस श्रद्धानको तो पूर्ण शुद्ध स्वच्छ ही बनाये रहे मेरा स्वभाव तो एक ज्ञानमात्र है, जाननस्वरूप है, ज्ञानानन्दस्वभावमात्र ही मैं हूं, इस प्रतीतिको न तजे। ज्ञान सम्यग्ज्ञान एक बार जगनेपर वह तो वही रहता है, फिर कर्मप्रेरणा, कर्मोदय विशेष आ भी जाय तो भी उलझन मानकर भी, घबड़ा कर भी, विह्वल होकर भी भीतर अव्यक्त रूपसे अपने श्रद्धानका उत्तम फल बराबर पाये ही जा रहा है यह ज्ञानी। हे साधु ! लोकपंक्ति न चाहकर, लोकएषणा न चाहकर फिर तू ज्ञान और तपस्यामें कितना ही अपनेको झोंक दे, शरीरको सुखा ले, वे सब कार्यकारिणी चेष्टायें होंगी। और एक लोकपंक्ति चाहकर लोकेषणा कितना भी तू कुछ कर ले परोपकार आदिक तो निमित्तनैमित्तिकता जो कुछ होनी हो, होती ही है, इसका तो कोई भंग न कर देगा।

उपशमभावकी कार्यकारिता— भैया ! केवल शास्त्रोंका पढ़ना और तप का करना ही तो कार्यकारी नहीं है। कार्यकारी तो उपशमभाव है, शान्ति का परिणाम है। यदि कोई पुरुष शास्त्र पढ़कर तत्त्वज्ञान बलसे कषायोंको कम करता है, तपश्चरण करके ऐसा अन्तः यत्न करता है कि इष्ट अनिष्ट अनेक वातावरण साधन सामग्री मिलें तब भी रागद्वेष नहीं होने दे, ऐसा साधन बनाता है, कषाय दूर करता है उसके तो शास्त्रअध्ययन और तपस्या दोनों ही सफल हैं। और जो शास्त्र पढ़कर तपस्या करके मन रमाने का ही काम करे। मान बड़ाईका ही काम करे। मौजसे गुजारा चल रहा है इसमें ही तृप्त हो जाय तो जैसे और लोग किया करते हैं विषयकषायोंके अर्थी, व्यापार करें, सेवादिक करें तैसा ही इस साधुने लौकिक कार्योंके लिए तपश्चरण किया है, ज्ञान सम्पादन किया है, भेषमात्रसे अन्तरङ्गका अन्तर तो ज्ञान और अज्ञानका है। इस कारण हे मुमुक्षुपुरुषो ! तपश्चरण करो, ज्ञान करो और ज्ञानका फल ज्ञाताद्रष्टा रहना मानो और तपश्चरण का फल विषयकषायोंका कम होना मानो। इस ही लक्ष्यको करके तुम ज्ञानमें और तपश्चरणमें खूब वृद्धि करो, इसमें ही कल्याण है।

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं,
स्वल्पोऽप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम्।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य,
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥१९१॥

अनर्थकारी विषयाभिलाषमें गमन पर खेद—हे आत्मन् ! तू शृंगार

सहित लोकको देखकर क्यों विषयोंकी अभिलाषाको कर रहा है? देख यह थोड़ी भी इच्छा महान अनर्थको उत्पन्न करती है। मोह रागमें मस्त मोहीजीवोंको यह विषयोंका स्नेह थोड़ा भी हो तो भी दुर्गतिका कारण है। जैसे ज्वर वाला रोगी थोड़ा भी स्नेह घी अथवा तेल जरा भी खा ले तो उसका रोग बढ़ानेके लिए होता है और संताप उत्पन्न करनेके लिए होता है। जैसे खासी ज्वर वालेको जरा भी घी उसको बरबाद कर देता है इसी प्रकार मोहीजीवोंको जरासा भी स्नेह बरबाद कर देता है।

निराकुलताके अथ कर्तव्य—हे भव्य! यदि तू निराकुलता चाहता है तो अपने चित्तमें आन्तरिक एक ही निर्णय रखो, मुझे परपदार्थोंसे कोई प्रयोजन नहीं। उनसे मेरे हितकी कोई आशा नहीं, मैं ही स्वयं अपने आपमें रत रहकर तृप्त होऊँ तो यही मेरा भाव मुझे शरण होगा। जगतका कोई भी अन्य पदार्थ मेरेको शरण कभी हो ही नहीं सकता। यह अभिलाषा मायारूप है। यह इच्छा स्वय ही अधिक देर तक नहीं टिक सकती है और इस क्षणिक इच्छाके प्रलोभनमें यह जीव आया तो उसको दुःखोंकी सतति बन जायगी। अत हे मुमुक्षु! तू विषयोंकी अभिलाषाका परित्याग कर दे।

अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं,
सकृदपकृतं श्रुत्वा सद्यो जहाति जनोऽप्ययम्।
स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य भवे भवे,
विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुधः ॥१६२॥

दुःचरायिताके प्रसंगमें त्यागकी नीति—किसीको स्त्रीसे अधिक प्रीति हो और कुछ कालके बाद यह समझमें आये कि इस स्त्रीसे दुराचारकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है तो यह पुरुष एक बार भी अपकारकी बात दुराचारकी बात सुनकर उसे शीघ्र ही त्याग देता है, लेकिन हे आत्मन्! यह विषयोंकी अभिलाषा जो भव-भवमें साक्षात् दुःख उत्पन्न करती है वह दुराचारस्वरूप है जो भव-भवमें इसे पीड़ा देती है। क्या ऐसी विषयोंकी अभिलाषा को नहीं त्याग सकता। देख जैसे तुझे इन विषयके साधनोंसे वाञ्छा जगी है, उनसे प्रीति करता है किन्तु अब समझ ले कि इन विषयसाधनोंकी, विषय वाञ्छाओंकी प्रकृति दुराचारस्वरूप है। अपने आपके आत्मतत्त्वसे चिगकर बाह्यपदार्थोंमें दृष्टिको गड़ाना यही अध्यात्मदृष्टिसे दुराचार है। इस दुराचारको तू अपना रहा है, इसे छोड़ता नहीं है। जो दिख भी रहा है साक्षात् कि भव-भवमें यह दुःख देता जा रहा है।

प्रव्रतत्यागकी न्याय्यता—एक बार एक ब्राह्मणकी कन्याने किसी वन में विराजे हुए दि० जैन साधुसे जब मुनिसे पंच पापोंके त्यागका व्रत ग्रहण

किया। अपने घर आयी, पिताजीको समाचार दिया कि हमने इस तरहसे पंचव्रत ग्रहण किया है दिगम्बर जैन साधुसे। तो वह ब्राह्मण क्रुद्ध हो गया, तूने मुझसे बिना पूछे व्रत क्यों लिया? बोला तू इन व्रतोंको अभी छोड़ दे। लड़की बोली पिताजी छोड़ देंगी व्रत, किन्तु साधु महाराजने यह भी कहा था कि यदि इस व्रतको छोड़ना तो मेरे ही पास आकर छोड़ना। तो आप चलिए, महाराजके पास चलकर छोड़ दूगी। चले और पुत्री। रास्तेमें एक मनुष्यको फांसी दी जा रही थी। लड़कीने पूछा—पिताजी यह क्या मामला हो रहा है? पिता बोला— बेटी, इसने कतल किया है, दूसरेकी जान ली है इसलिए इसे फांसी दी जा रही है। पुत्री बोली कि जब एक आदमीकी हत्यामें इसे फांसी दी जा रही है तो किसीकी हिंसा करना बुरी ही तो बात है। हमने यदि हिंसाका त्याग कर दिया तो कौन सी बुरी बात है जो आप व्रत छोड़नेके लिए कह रहे हो?... अच्छा बेटी तू एक इस व्रतको लिए रह, शेष व्रत तो छोड़ दे। आगे जा रहे थे कि किसी मनुष्यकी जिह्वा छेदी जा रही थी। पूछा— पिताजी यह क्या हो रहा है?.. इस मनुष्यने बहुत विकट झूठ बोला है इसलिए इसकी जिह्वा छेदी जा रही है।.. तो पिताजी झूठ बोलनेके कारण जिह्वा छेदी जा रही है तो हमने झूठ बोलनेका त्याग किया तो अनर्थ किया?.. अच्छा बेटी तू इस व्रतको भी लिए रह, शेष व्रत तो त्याग दे। आगे चले जा रहे थे। रास्तेमें कुछ सिपाही लोग एक पुरुषके हथकड़ी डाले पीटते हुए लिये जा रहे थे। लड़कीने पूछा— पिताजी यह क्या मामला है? बेटी इसने दूसरेका धन चुराया है इस कारण यह कैदी बनकर पिटता हुआ जा रहा है।... तो पिताजी हमने चोरी करनेका त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया?... अच्छा बेटी तू इस व्रतको भी लिए रह, शेष तो त्याग दे। आगे बढ़े तो एक जगह एक पुरुषके हाथ काटे जा रहे थे। लड़की बोली— पिताजी यह क्या मामला है?.. बताया कि इस पुरुषने दुराचार किया है इसलिए इसके हाथ काटे जा रहे हैं।. तो पिताजी कुशील बुरा हुआ ना? यदि मैंने कुशीलका त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया? अच्छा बेटी तू इस व्रतको भी लिए रह। आगे देखा तो एक पुरुषपर बड़ी विकट मार पड़ रही थी। लड़कीने पूछा— पिताजी यह क्या मामला है?... बताया कि इसने अन्यायसे दूसरोंका धन अधिक लेना चाहा, इसीसे इस पर यह मार पड़ रही है। इसके तृष्णा जगी है, इसको पाये हुए धन पर सन्तोष नहीं है।... तो पिताजी परिग्रह दुःखकी खान है ना। यदि मैंने परिग्रह त्यागका अर्थात् परिग्रह परिमाणका व्रत लिया तो क्या बुरा किया?.. अच्छा बेटी तू इस व्रतको भी लिए रह, शेष तो त्याग दे।

आगे बढ़े तो एक जगह एक पुरुषके हाथ काटे जा रहे थे, लड़की बोली—पिता जी यह क्या मामला है? बताया कि इस पुरुषने दुराचार किया है इसलिए इसके हाथ काटे जा रहे हैं। तो पिता जी कुशील बुरा हुआ ना? यदि मैंने कुशीलका त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया? अच्छा बेटी तू इस व्रतको भी लिए रह। आगे देखा तो एक पुरुषपर चड़ी विकट मार पड़ रही थी। लड़की ने पूछा—पिता जी यह क्या मामला है? बताया कि इसने अन्यायसे दूसरोंका धन अधिक लेना चाहा इसीसे उसपर यह मार पड़ रही है। इसके तृष्णा जगी है इसको पाये हुए धनपर संतोष नहीं है। तो पिता जी परिग्रह दु:खकी खान है ना? यदि मैंने परिग्रह त्यागका अर्थात् परिग्रह परिमाणका व्रत लिया तो क्या बुरा किया? अच्छा बेटी तू इस व्रतको भी लिए रह, किन्तु चल तो उस साधुके पास, उसने मेरे पूछे बिना तुझे व्रत क्यों दिया? उसको तुझे व्रत देनेका क्या अधिकार है?

वास्तविक पितृत्व—जब साधु महाराजके पास दोनों पहुचे तो ब्राह्मण बोला—महाराज तुमने हमारी लड़की को बिना हमसे पूछे व्रत क्यों दिया? साधु बोला कि लड़की हमारी है कि तुम्हारी है? अरे महाराज आप गलती पर गल्ती करते चले जा रहे हैं। अच्छा तू सब लोगोंको इकट्ठा करले और जब सब लोग एकत्रित हो जायें तब देखना लड़की किसकी है? इकट्ठा हो गये सब लोग, सभी बड़ी उत्सुकतासे देख रहे हैं। साधु महाराज इसे अपनी लड़की बता रहे हैं। साधुने आशीर्वाद देकर उस लड़कीके शिर पर हाथकी छाया करके कहा कि हे पुत्री! जो तुझे हमने सिखाया वह सब तू व्याख्यान कर। उसे एकदम विशेष क्षयोपशम जगा, विशुद्ध परिणति हुई और जो-जो उसने पूर्व जन्ममें अध्ययन किया था शास्त्रोंकी वे सब बातें व्याख्यान करने लगी। तब ज्ञानियोंने समझा कि वास्तविक पितृत्व आत्मरक्षकतामें ही है। मोही लोग अचरज करने लगे।

अनर्थमूल विषयाभिलाषकी परिहार्यता—यह इच्छा, व्यसनकी पापकी उत्सुकता ये सब साक्षात् दुराचार ही तो हैं और इनके फलमें सीधा देख भी रहा है कि बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं, पर इनको दूर नहीं करना चाहता। तू कितनी कामनायें वासनायें बनाये जा रहा है, ये सब भव भव में तुझे रुलाने वाली चीजें हैं। इनका तू परिहार नहीं करता। हे भव्य-जन! शान्ति चाहते हो तो समस्त अनर्थोंका मूल जो विषयोंकी अभिलाषा है उसका तू त्याग कर दे। थोड़ा धर्म करता, थोड़ा विषयोंमें जाता ऐसा ढिलमिल कार्य करके तुझे सफलता न मिलेगी। तू एक निर्णय रख कि मुझे समस्त परवस्तुवोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है। मेरा जो विशुद्ध

आत्मा है उसमें ही रमें, इसहीके लिए हमारा जीवन है, यों निर्णय करके आत्मकल्याणकी धुन बनायें।

आत्मन्यात्मविलोपनात्सचरितैरासीद्दुरात्मा चिरं,
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः।
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ॥१६३॥

दुराचारसे विपत्ति—हे आत्मन्! तू आत्मज्ञानका विनाश कर अज्ञानी बन रहा है। देख आत्मज्ञानका घात करने वाली इन विषय कषायोंकी प्रवृत्तियोंसे तू चिरकालसे दुराचारी होता चला आ रहा है। जब तक आत्माका सम्पूर्ण विकसित होनेके कारणभूत ज्ञान और वैराग्य भावको स्वीकार नहीं करता है तब तक तू इस ही प्रकार इस संसारसमुद्रमें गोते ही खाता रहेगा। अपने सहजस्वरूपकी सुध ले। मोहजालको मूलसे काट। इस मोहजालमें कोई सिद्धि नहीं है। क्षणिक समागम है, कुछ समयके लिए मिला हुआ वैभव और परिजन है, तिस पर भी ये सब भिन्न पदार्थ हैं। समागमके कालमें भी जैसा हम चाहें तैसा दूसरे परिणमन करलें ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ कोई दूसरा मेरी इच्छाके अनुकूल कुछ परिणमन भी करता है तो वह अपनी चाहसे करता है, मेरी चाहसे नहीं करता। कोई दूसरा प्राणी मेरी चाहसे कुछ कर ही नहीं सकता। तू उन परपदार्थोंकी ममताका परिहार कर और अपने सहज स्वभावको अंगीकार कर।

सदाचारसे सिद्धि—यह आत्मा ही परमात्म दशाको प्राप्त कर लेता है ना। यह आत्मा ही स्वयं केवलज्ञान स्वरूप है ना। सो अपने आपके ध्यानसे ही अपने आपके पुरुषार्थसे ही अपना यह आत्मीय आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। शुद्ध आत्मभावो धारण करके अपने अध्यात्मस्वरूपमें ही यह ज्ञानी ठहर सकता है। जब तक तेरी बहिरात्म दशा है तब तक तू अपने कषायके सेवनसे दुराचारी ही बना हुआ है। जब ज्ञान और वैराग्य की परिणति करेगा तब तू सदाचारी है। जैसा आत्माका स्वरूप है और जिस पद्धतिमें आत्मामें शान्ति उत्पन्न होती है ऐसा सीधा, स्वाधीन, सुगम सहज उपाय यही है सदाचार। सदाचारसे शान्ति है और दुराचार से कष्ट भोगना होता है। तू अपने आपके स्वरूपमें आचरण कर, यही तुझे शरण है।

अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवाद्धाहित—
स्तेतोऽनशनसामिभक्तरसवर्जनादिक्रमैः।

क्रमेण विलपावधि स्थिरितपो विशेषैरिदम्,
कदर्थय शरीरकं रिपुमिवाद्य हस्तागतम् ॥१६४॥

संकटोंका कारण शरीर सम्पर्क—इस जगतमें इस शरीरने तुझे अनन्तकाल तक दास बनाकर सेवककी नाईं परिभ्रमण कराया। आत्मा तो एक ज्ञानस्वरूप है किन्तु इस शरीरके सम्बन्धमें रहकर इसने लोकमें सर्वत्र भ्रमण किया। यह केवल अकेला होता, शरीरका बन्धन न होता तो यह काहे को भटकता? देख इसही शरीरने तुझे इस जगत्में भटकाया और इतना ही नहीं जितने क्लेश तू ने सहे हैं वे सब इस शरीरके सम्बन्धसे सहे हैं। भूखसे बड़ी वेदना होती है तो वहाँ भी शरीरका सम्बन्ध ही कारण है। प्यास, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, नामवरीकी चाह धन संग्रह करने की बुद्धि, लालच, सभी प्रकारके जितने भी कष्ट और श्रम हैं वे सब इस शरीरके सम्बन्धके कारण हैं।

मानसिक ऊधम विपदाओंका कारण शरीरसम्पर्क--भैया! और तो जाने दो, जो अपएडना है, ऊधम है, याने शरीरमें कुछ वेदना नहीं है फिर भी मनकी चाह बढ़ा-बढ़ा कर यश, नाम, चाह, व्यामोह बनाकर जो विकल्प किए जाते हैं, श्रम किए जाते हैं वे ऊधम हैं। ये ऊधम भी महा क्लेश हैं। शरीरके सम्बन्ध बिना तो यह सब क्लेशजाल नहीं हो रहा है। जब कोई इस शरीरको नजरमें रखकर यह जानता है कि यह मैं हू तब यह भी भाव हुआ कि मेरा लोगोंमें बड़ा अच्छा स्थान रहे, नामवरी बढे, यश हो। ऐसी चाह क्या तब होती जब कि अकेला आत्मा होता, यह शरीर पिंडोला साथमें न होता? न होती। इस शरीरके सम्बंधसे मोहवश ये सारी खटपटें हुआ करती हैं। क्या कोई ऐसा सोचकर दुनियामें अपना नाम रखनेका भाव कर सकता है कि यह मैं एक चैतन्यस्वरूप हू, एक चिदात्मक अमूर्त तत्त्व हू? नहीं। पर्यायबुद्धिसे ही ये सारे ऊधम चल रहे हैं।

अनर्थशरीरसे प्रीतिकी व्यर्थता—देख इस शरीरने तुझे दास बनाकर जगतमें भ्रमाया और नाना प्रकारके कष्ट दिखाये और तू इस शरीरमें ही बड़ा अनुराग कर रहा है। इस शरीरको निरखकर तू हर्षमग्न हो रहा है। तुझे यह पता नहीं कि कुछ ही दिनों बाद यह शरीर भस्म बन जायगा, राख हो जायगा या पक्षी चोंटकर समाप्त कर देंगे? इस विनाशीक शरीरसे क्या प्रीति करना? और देख जैसे तेरा यह शरीर विनाशीक है और तुझे बध मालूम होता है ऐसे ही तो ये सब शरीर हैं। तू दूसरोंके शरीरसे भी प्रीति करता है। अरे ये सभी शरीर अशुचि, मल, मूत्र, मास, चाम आदिके पिंड हैं, अपवित्र चीजें ही इसमें सब भरी हैं। रच भी तो इसमें

कोई सार बात नहीं है। पशुवोंके शरीरमें तो लोकव्यवहारमें कोई सारभूत वस्तु मिल सकती हैं हड्डी, चाम, रोम, दंत इत्यादि पर ये तेरे हड्डी चाम, रोम इत्यादि तो किसी भी कामके नहीं हैं। ये तो सब जलाकर भस्म कर दिये जायेंगे।

देहकी भयानकता—देखो भैया! ऊपरकी थोड़ीसी चिकनाई और चाम भी कुछ सजे हुए मालूम देते हैं। तू इस चामको नजरसे ओझल करके इसके अन्दर जो कुछ है उसकी तो कल्पना कर। जैसे मरघटमें मुर्दे की खोपड़ी पड़ी रहती है शायद कभी देखा हो या बिजलीके खम्भोंमें जहां पर डेन्जर अथवा खतरा अथवा सावधान लिखा रहता है वहाँ पर खोपड़ी का फोटो टंगी रहती है उसे देखा होगा तो वह कितना भयानकसा लगता है। हड्डी निकली, आँखोंकी जगह दो गडढेसे, नाककी जगह तो बिलकुल बेढंगासा दिखता है। वही चीज तो इस जिन्दा हालतमें है। कोई नई बात नहीं है। जो रूपक, जो आकार, जो ढंग उस मुर्दाकी खोपड़ीमें हैं वहीकी वही चीज जिन्दा मनुष्यकी खोपड़ीमें हैं। जिस शरीरने तुझे कष्टका कारण बनाया उस ही शरीरसे प्रीति करता है। अरे जिन्दा रहनेके लिए कुछ खा लिया जाता है वह तो ऊधम नहीं है, पर यह अपने भीतरकी ईमानदारी है कहाँसे क्या होना है।

नरभवके सदुपयोगका अनुरोध—हे आत्मन! तू अब इस शरीरको व्रतमें, तपमें, संयममें लगाकर इससे अपने आत्माका काम निकाल। अनशन आदिक तपश्चरण करके ऐसे ही क्रम क्रमसे तू जीवनके दिन पर्यन्त इस कायको क्षीण करने योग्य तपश्चरणको करते हुए शरीर भी क्षीण हो रहा है तो तू इसका रंच शोक न कर। उसमें लाभ मान। होने दे क्षीण। जिसमें आत्माको वास्तविक परमार्थ प्रसन्नता रहे उस कार्यको करनेसे तू क्यों विमुख होता है? इस शरीरको तू ज्ञान, ध्यान, तपस्या आदिक कार्यों में लगा। तू ऐसा जान कि जैसे किसीको शत्रु हाथ लग जाय तो उस शत्रु को वह क्षीण कर देता है, वैसा ही तू भी समझ ले। मानो यह शरीर शत्रु तेरे हाथ लग गया है, तू इसको क्षीण कर। भेदविज्ञानकी भावनासे बल बढ़ा, जिस भावनामें इस शरीरका सदाके लिए सम्पर्क छूटे और अकेला आत्मा ही रहकर अपने स्वरूपमें समा करके सहज अनन्त आनन्दको भोगता रहे। ऐसा ज्ञान बनाना ही सत्य पुरुषार्थ है।

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि,
कांक्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानम्।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्यु—
र्मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥१६५॥

शरीरकी शरारत—यह शरीर अनर्थकी परम्पराका कारण है। जितने भी कष्ट, अनर्थ, विषाद होते हैं उन सबका मूल कारण यह शरीर है। देखो प्रथम तो इस शरीरकी उत्पत्ति होती है और इस शरीरमें ये हत्यारी इन्द्रिया विषयोंको चाहती हैं। जैसे लोकव्यवहारमें कहते हैं ना—नासकी मिटी फलानी चीज। यह एक गाली होती है। तो इन्द्रियोंको यहां हत कहा गया है। नासकी मिटी ये इन्द्रियां विषयोंको चाहती हैं, और यह विषय मानका भंग करता है। विषयोंकी अभिलाषा जगे तो गौरव नहीं रहता, मान स्वाभिमान नहीं रहता। दीन और याचक बन जाता है, किसी भी प्रकारका विषय हो। ये विषय महाक्लेशके कारण हैं, भय उत्पन्न करने वाले हैं, पापके कारण हैं। खोटी योनियोंके देने वाले हैं। तब यही तो सिद्ध हुआ कि समस्त अनर्थ परम्पराका मूल कारण यह शरीर है।

विषयाभिलाषमें मानहानि—यह जीव संसारदशामें पूर्वशरीरको छोड़कर नया शरीर ग्रहण करता है तो प्रत्येक शरीरमें क्या गुजरी बात ? जिस समय जीवकी जैसी योग्यता है उसके अनुरूप शरीर इन्द्रियां उत्पन्न हुई और इन इन्द्रियोंने विषयोंकी उत्सुकताकी ओर ये विषय अपमानके कारण हैं। घर ही में किसीको खानेकी चीजको कहना पड़े तो उसमें भी हालाकि आपकी चीज है, आपके घरमें है फिर भी कहनेमें थोड़ी हीनता आ जाती है। प्रथम तो घरमें कोई पूछे भी कि आज खाना क्या बनायें तो उसका उत्तर देनेमें भी थोड़ी हीनता आती है। अरे जो बनाना हो सो बनावो। किसी भी विषयकी इच्छा उत्पन्न हो तो वहां मान नहीं रहता। भोजन कर रहे हैं और मागते जा रहे हैं—रोटी ले आवो, साग ले आवो, मीठा ले आवो तो यद्यपि वह आपके घरकी ही बात है। आपकी ही चीज है, पर इतने शब्द बोलनेमें आप ही सोच लो—हीनता आती है या नहीं। फिर जिन वस्तुवों पर अपना अधिकार नहीं उन वस्तुवोंकी भी वाञ्छा करे तो उसमें मान कहां रह सकता है ?

शरीरमें सकल अनर्थ परम्पराकी कारणता—यह शरीर समस्त अनर्थों की परम्पराका कारण है। आजकल हो देख लो सभी लोग पसीनेसे लथपथ हो गये हैं, अपना ही शरीर अपने हाथसे नहीं छुवा जाता, ऐसी स्थिति में भी इस शरीरसे मोह नहीं छोड़ा जा पाता। अनेक आवश्यकतावोंकी पूर्ति और सभी बातें ज्योंकी त्यों हैं। समस्त अनर्थोंकी जड है यह शरीर। सारे रोग, सारे मेल मिलाप, सारे विसम्वाद, कलह, आपत्ति, चिन्ताएँ ये सब इस शरीरके कारण हैं। लोग जरासी बातोंमें अपना सम्मान अपमान महसूस करने लगते हैं। इसका भी कारण यह शरीर है। देखो उसने मुझे यों कह दिया। अरे तू किस मुझको कह रहा है ? इस शरीरको ही

तो दृष्टिमें रखकर कह रहा है तो देखो अनर्थोंकी परम्पराका कारण यह शरीर है।

शरीर विनाश करके भी शरीरख्यातिकी चाह—जिसने अपने शरीरसे मोह छोड़ा उसने सबसे मोह छोड़ा। कोई-कोई योद्धा युद्धमें अपने शरीर को झोंक देते हैं। क्या आप यह कह सकेंगे पूर्णरूपसे कि उस योद्धाके अपने शरीरसे मोह नहीं है? अरे इस शरीरके आधारसे होने वाला जो यश है उस यशकी चाहसे जिसने शरीरको भी युद्धमें झोंक दिया वह शरीरका मोह त्याग नहीं है। उसने इस शरीरकी प्रसिद्धिके खातिर इतना अधिक विकल्प बनाया कि शरीरका नाश करके भी शरीरकी ख्याति चाही है। मोह कहाँ तजा ?

विसंवादोंका कारण शरीरसम्पर्क—घरमें जरा-जरा-सी बातोंपर झगड़ा हो जाता है। जैसे महिलावोंमें आपसमें न बने, सास बहूमें अथवा जेठानी दौरानीमें खूब झगड़ा मचा रहे तो उसका क्या कारण है ? अरे उन्हें धनार्जनसे कोई प्रयोजन नहीं कि हमारी कमाई कम है, इसकी ज्यादा हो रही है। कमाई तो सब पुरुष तो कर रहे हैं, लड़ने झगड़नेकी क्या जरूरत थी, क्या जीवन यात्राके लिए वह लड़ाई आवश्यक थी ? आवश्यक तो न थी, पर वे क्या करें, शरीरमें है आत्मबुद्धि। यह मैं हूं, उससे रूपक बना एक जालका। तो वहाँ पद-पद पर अपमान महसूस किया जाता है। पढ़ी लिखी बहू घर आ जाय, और सास हो बिना पढ़ी तो सासकी कोई बात मान लेनेमें बहूको अपमानसा महसूस होता है। मुझ पर आज्ञा, यह मूढ़, मैं बी. ए., एम. ए.। जिसको एक अक्षर बांचना नहीं आता वह मुझ पर हुकूमत करे। अरे यह सब अहं बुद्धिका ही तो परिणाम है और सास अपने उस गौरवके लिए लड़ी मरी जा रही है। इस बहूको तो रोज हमारे चरण छूना चाहिए। यह तो ढंगसे कभी बैठती भी नहीं, एक भी बात नहीं मानती। नाना कल्पनाएँ होती हैं, यह सब क्या है ? यह सब शरीरके सम्बन्धके कारण है। चैतन्यमात्र जैसा स्वरूप है वैसा अपनेको मानकर कौन विवाद करता है ?

आधिव्याधि उपाधिके कारणभूत शरीरके मोहके त्यागका अनुरोध—आधि, उपाधि ये सब इस शरीरके सम्बन्धके कारण होते हैं। आधि मायने मानसिक चिंता—वह भी इस शरीरके कारण है। व्याधि मायने शरीरके रोग ये भी इस शरीरके कारण हैं और उपाधि मायने उप मायने समीप आधि मायने मानसिक चिन्ता जो मानसिक चिंताओंके समीप लाये उसे कहते हैं उपाधि। जैसे बी० ए०, एम० ए०, शास्त्री, न्यायतीर्थ ये सब उपाधियां हैं। जो इन उपाधियोंसे लगाव रखते हैं वे आधिसे

ग्रस्त हो जाते हैं। तो जितनी भी विपत्तियां हैं, अनर्थ हैं वे सब इस शरीरकी नींव पर बने हुए हैं। यह मोही जीव अनर्थके कारणभूत इस शरीरसे ही प्रेम करता है। इस शरीरका विकल्प छोड़कर, ख्याल छोड़कर कुछ समय तो अपने आपका जो स्वरूप है, स्वभाव है उसका चिन्तन मनन कीजिए।

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितुम् ॥१९६॥

मोहियोंकी देहपोषणमें प्रवृत्ति--मोहीजन शरीरको भी पुष्ट करते हैं और विषयोंका भी सेवन करते हैं। इन मोही जीवोंको कुछ भी पाप आदिककी बात दुष्कर नहीं है, मानो विष पीकर जीने की इच्छा कर रहे हैं धर्मसाधनाके लिए जीवन रखना जरूरी है, और जीवनके लिए कुछ अन्न जल देना जरूरी है—एक तो यह भाव है उसमें अविवेकका नाम नहीं है। अनेक बड़े-बड़े योगीश्वरोंको भी ऐसा करना पड़ता है, और एक स्वादिष्ट भोजन, चरपरा भोजन कर करके शरीरको पोषते हैं। यह मोह ही कराता है। जो चीजें सीधी खाई जा सकती हैं उनको भी साग बनाकर लोग खाते हैं। किसमिस छोहार आदि चीजें सीधे खाई जाने वाली चीजें हैं पर इनको भी लोग घी, मसाले डालकर साग बनाकर खाते हैं। यह सब क्या है? यह सब व्यर्थकी एक विषयाभिलाषा है। स्वादिष्ट भोजनकी चाह है। तो यों शरीरका पोषण करना, यह तो मोहकी बात है। खाते जायें कितने ही बार, ६ बार सात बारका कोई ठिकाना ही नहीं, न दिनका न रातका और ख्याल बना है, रातके ९ बजे दूध पीना इस शरीरकी पुष्टिके लिए हैं, यों कल्पनाएँ कर रहे हैं। अरे ऐसे दूध पीने वालोंको देखलो और सीधा सादा दो एक बार ही दिनमें खाने वालों को देखलो, कहाँ अन्तर आया? केवल एक व्यर्थकी कल्पना शरीरके ही पोषण का और प्रेमका परिणाम है।

शरीरपोषणका मोहमें प्रयोग--मोहकी दशामें शरीरके पोषणकी बात तो चलती ही है और फिर शरीरका पोषण करके प्रयोग क्या करते हैं? विषयोंका सेवन, ५ इन्द्रिया और छठा मन इनके विषयोंके साधनोंकी वृद्धि, ये ही दो काम मोही जीवोंको रुचते हैं। खूब देख लो, ये मोहीजन चौबीसों घटे इन्हीं दो कामोंमें लगे रहते हैं। तीसरी बात कुछ भी उन्हें नहीं आती। उपकार करेंगे, नेतागिरी करेंगे उसमें भी मनका विषय जुड़ा हुआ है। तो मोही जीव शरीरको पुष्ट करते हैं और विषयोंका सेवन करते हैं, ऐसे मूढ़ जीवोंको कुछ भी विवेक नहीं है। जो ज्ञानी हैं, विवेकी हैं वे विषयोंसे अधिक प्रेम नहीं करते। यहाँ ही उनकी प्रवृत्ति देख लो ना।

कुरूपमें सजावटकी आवश्यकता—कोई लोग शरीरका बड़ा शृङ्गार करते हैं। गहनोंसे अंग सजा लिया, इतने पर भी मन न भरा तो मुँह पर सफेद राख लपेट लिया, इतने पर भी मन न भरा तो ओठोंको लाल कर लिया, इतने पर भी मन न भरा तो आँखोंमें काजल लगा लिया। खुदका मुँह खुदको तो दिखता नहीं, सो दर्पणको देख देखकर खुश हो रहे हैं। ऐसी सजी धजी सूरत चाहे किन्हीं मूर्खोंको रुच जाय, पर विवेकी लोग तो उसकी सारी पोल जानते ही हैं। शरीर यह खुद सुन्दर नहीं है, इसी लिये काजल, लाली, पाउडर आदि बाहरी चीजें लगाकर सुन्दर बनानेकी कोशिश की गयी है, समझने वाले सब जानते ही हैं। तो शरीरका साज शृङ्गार बनाना यह मोह बिना होता है क्या? शोभा गुणोंसे होती है। इस चामकी सजावटसे शोभा नहीं होती और आन्तरिक प्रसन्नता भी गुणोंसे मिलती है। इस शरीरकी सजावटसे प्रसन्नता नहीं मिलती, लेकिन मोही जन इस शरीरका ही पोषण करते हैं और विषयोंको सेवते हैं। विषयोंके सेवनसे वे चाहते तो सुख हैं मगर होता क्लेश है।

विषयलोभमें दुर्दशा—भैया! देख लो ना घर घर दशा। जो विषयोंके लोभी हैं वे धनिक हों तो उनकी दुर्दशा देख लो और चाहे गरीब हों उनकी दुर्दशा देखलो। पुराणोंमें बताया है कि सत्यंधर राजा अपनी ही रानीके अधिक प्रेममें आकर उसने एक काठ बेचने वाले को राज्य दे दिया। उसे राज्यसे अपने विषय सुखोंमें बाधा मालूम होती थी। उतना टाइम देना, दरबारमें बैठना, कुछ काम काज करना इसमें उसे बाधा जंचती थी सो काष्ठांगारको राज्य दे दिया, फिर काष्ठांगारने उसी पर चढ़ाई कर दी। काष्ठाङ्गारने सोचा कि यह जीवित रहेगा तो मेरा यश न रहेगा, लोग यही कहेंगे कि यह इसका दिया हुआ राज्य है। तो इतना उपकार करने वाले के प्रति इतनी भी बात न सही जा सकी। कुछ देर बाद जो परिणाम होता है उस पर दृष्टि देकर देख लीजिए।

विषयप्रसंगका परिणाम—भैया! किसी भी विषय प्रसंगमें कुछ भी लाभ नहीं मिलता। घरमें आप हिलमिलकर रहे, बड़े प्रेमसे १०-४ वर्ष गुजरे, अब वही वातावरण, वही समागम आपत्तिजनक लगने लगता है। फिर क्या, इच्छा होती है, उसकी पूर्तिके कालमें थोड़ा सुख मानते हैं, ब्याह हुआ, संतान हो गये, हो गई दो एक संतान, दिलमें खुशी हो गये। कुछ समयके बाद तो अनेक घटनाएँ घटती हैं, उन घटनाओंसे अब दुःखमें पड़ गए। कोई पुत्र प्रतिकूल है, किसीका कुछ खर्च है, किसीका कुछ है और यहीं तो यही देख देखकर कि ये सब मतलबके गर्जी हैं, अरे इन मतलब गर्जियोंको तुमने ही तो पैदा किया। अब वे बुरे लगने लगे

कुछ भी करें, उन सबका परिणाम अन्तमें क्लेश ही मिलता है।

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्राम कलौ कष्टं तपस्विनः ॥१९७॥

तपस्विजनोंको उद्बोधन—यह समस्त सम्बोधन साधुजनोंकी मुख्यता से इस ग्रन्थमें किया गया है। शरीरके अनुरागमें जैसे गृहस्थजन मनमाना जो बनाना आवश्यक समझा है कर लेते हैं। गृहस्थजनोंकी इतनी सी बात जो हम आपको सोचने में ऐसा लगेगा कि यह तो कुछ भी बात नहीं ठीक है। उसके मुकाबिलेमें कुछ करते हैं ऐसा साधु तो क्या करें, करना चाहिए, समय है ऐसा। यों सोचना ठीक नहीं है। वही बात साधु के अयोग्य है। इस रूपमें गुणभद्र आचार्य कह रहे हैं। ऐ तपस्वीजनों! मुनिजन यहा वहा भयभीत होते हुए हिरणोंकी तरह रात्रिमें बनसे हटकर ग्रामके समीप पहुच जाते हैं कलिकालमें, यह बड़े कष्टकी बात है।

विशुद्ध कर्तव्यमें आस्थाकी आवश्यकता—इस श्लोकमें यह बात दिखायी है कि यद्यपि ये साधुजन दिनमें तो बनमें रह रहे हैं—इस पंचम कालकी बात कह रहे हैं लेकिन रात्रिसे निकट पूर्व बनसे हटकर ग्रामके छोर पर आ जाया करते हैं। आचार्यदेवको यह उचित लग रहा है कि निर्भयताके साथ साधुधर्म निभाना चाहिए। भय मानकर उसके वश होकर ग्रामके निकट आ जाते हैं, इस पर आचार्यदेव खेद प्रकट करते हैं। चूँकि यह प्रकरण शरीरके पोषणका चल रहा था तो यह क्रिया उस शरीर पोषणसे ही सम्बन्धित हुई है ऐसा इसमें दिखा रहे हैं। लगाना ठीक? ऐसा करने लगते हैं तो क्या है? समय भी तो देखना चाहिए, अन्यथा कोई करके बताए। केवल आलोचनासे क्या है? समय देखो किस प्रकार का है और प्राय किया भी जाता है लेकिन चित्तमें तो यह बात आनी चाहिए कि यह उत्कृष्टताकी बात नहीं है। उत्कृष्टताकी बात है निर्भय होकर बनका निवास बनाकर इस आत्मतत्त्वकी उपासनामें लगा जाय।

दृष्टिकी स्वच्छताका आदर—जिन बातोंमें मूल गुणका घात नहीं होता, कदाचित् वे बातें भी परिस्थितिवश बन जायें तो चलो परपरिणति है, किन्तु दृष्टि तो शुद्ध होनी ही चाहिए। यह कष्टकी बात है, यह अनुत्कृष्ट बात है, शरीरके पोषणका परिणाम। अपने-अपने पदके अनुसार भिन्न-भिन्न व्यवहारधर्म हुआ करते हैं। साधुजन चूँकि निर्मोह निग्रन्थका व्यक्तरूप हैं इस कारण इस त्रासको भी शरीर पोषणसे सम्बन्धित मानकर आचार्यदेवने ग्रामके निकट बसने पर खेद प्रकट किया है। शिक्षा यह है कि हम दृष्टि ऐसी बनायें कि निर्मोहताकी दृष्टि बन सके और इस मोहके बन्धनमें न फँस सकें।

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः ।
श्वः स्त्री कटाक्षलुण्टाकैर्लुप्तवैराग्यसंपद ॥१९८॥

निर्विकारतामें कल्याण—इस लोकमें यदि कोई तपश्चरण करता हुआ भी कामवश होकर, विरक्ति सम्पदा लुटाकर दीन होता है और संसार परिभ्रमणकी परम्परा बढ़ानेकी करनी करता है तो ऐसे तपश्चरण के भेषसे गृहस्थपना ही श्रेष्ठ है, यह साधुवोंके सम्बोधनेके लिए ग्रन्थ है। जिस प्रकार साधुजन विकारोंसे अवगुणोंसे हटकर स्वकी दृष्टिमें आयें, आत्मसन्तोष पायें उस प्रकारका उन्हें उपदेश दिया गया है। वह तप भी संसारभ्रमणका कारण है जिस तपश्चरणमें बढ़कर अन्तरङ्ग विकारोंका पोषण किया जाता हो। हे साधो ! अपने आपके स्वरूपको निर्विकार निरख और इस निर्विकार आत्मतत्त्वकी रुचि करके यहाँ ही रत हो और तृप्त हो। अरे ये विकार तेरे स्वरूप नहीं हैं, ये तो तुझे दुःख देनेके ही हेतु हैं। यही तो एक साहस करने की बात है। अन्तरङ्गमे समस्त बाह्य पदार्थोंसे और परभावोंसे विरक्त रहें यही एक अन्तःपुरुषार्थकी बात है, हे साधो ! तू ऐसा ही पुरुषार्थ कर।

स्वार्थभ्रंश त्वमविगणयन स्यक्तलज्जाभिमानः,
संप्राप्तोऽस्मिन् परिभवशतैर्दुःखमेनत् कलत्रम् ।
नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलब्धोसि भूयः,
सख्यं साधो यदि हि मतिमान् माग्रहीर्विग्रहेण ॥१९९॥

असारकी प्रीतिमें सारकी अवहेलना—हे भव्य-जीव ! तू इस शरीरके मोहमें अपने लिए शुद्धोपयोग रूप आत्मकल्याण अथवा पंचमहाव्रतरूप मुनिधर्म अथवा अणुव्रत रूप श्रावकका धर्मके नाशको तू कुछ नहीं गिन रहा है और इस शरीरके लिए ही सर्व कुछ विकल्प और श्रम कर रहा है। देख यहाँ ये सब स्त्री आदिक संयोग समागम ये सब महादुःखके मूल हैं। आत्मा स्वय आनन्दस्वरूप है और इस ज्ञानानन्दस्वरूप ज्ञानघन निजको जाननेमें ही व्याप्त रहे तो इससे बढ़कर और समृद्धि क्या हो सकती है ? जहाँ वास्तविक शान्ति उत्पन्न हो ऐसी क्रियाको, चेष्टाको समृद्धि कहते हैं। देख विषयोंसे ठगाया जाकर लज्जा और स्वाभिमान जो कि धर्मरक्षा के लिए गुण हैं उन सबको तू छोड़ देता है। गौरव नष्ट कर देता है, सो देख जिन विषय साधनोंके समक्ष, जिन चेतन जीवोंके समक्ष तू ने अपनी दीनताकी, वे तो तेरे साथ मरने पर एक पग भी न जायेंगे, यह तो ठीक ही है, किन्तु यहां भी तो देख—जीवित अवस्थामें भी जिनसे राग किया जा रहा है, ये तुझे कौनसी शान्ति उत्पन्न कर देते हैं ?

शान्तिका सुगम यत्न—भैया ! शान्ति प्राप्त करनेका एकदम सी

मार्ग है, जहाँ न कोई दीनता है, न विपरीतता है, ज्ञानानन्दघन निज-स्वरूपको जानते रहना। इतना यदि किसीसे करते नहीं बनता है तो उसका संसारपरिभ्रमणका काम बन ही रहा है। सीधीसी बात चित्तमें नहीं ठहरती और वक्र विषय पराधीन विभावरूप ये विषय कषायके परिणाम ये इसे परिचितसे लगते हैं, ये हितकारी हैं, सुखकारी हैं, इस प्रकारके विकल्प इसको उत्पन्न होते हैं और सीधी सी बात इसे कठिन लगती है जो कि स्वद है, स्वरमें रत हो जाय, परपदार्थोंका संकल्प विकल्प त्याग दे, तो फिर आनन्द ही आनन्द है। तू क्यों इन परपदार्थोंके समागम में लीन हो रहा है, ये सारे परपदार्थोंके समागम तुझे कष्ट दे रहे हैं और भव-भवमें कष्ट देंगे। यदि कुछ बुद्धि है, विवेक है तो समझ। इस शरीर से तू रंच भी प्रीति न कर।

शरीरकी विभक्तता—हे आत्मन! तू इस शरीरका पोषण कर रहा है स्वादिष्ट भोजन करके, श्रृङ्गार करके, और इसे आरामसे रखनेके लिए तू अनेक चेष्टाएँ कर रहा है तथा इस शरीरके खातिर इसही शरीरके संगके कारण तू स्त्री पुत्रादिक परिजनोंमें अनुरागी होकर, निर्लज्ज होकर दीन बन रहा है, पर यह शरीर तो तेरे साथ एक पैड भी न जायेगा। तू चाहे इस शरीरसे कितनी ही मिन्नत कर मरण समयमें, प्रिय शरीर! मैंने तेरे पोषणके लिए सब कुछ खिलाया, मगर तेरे पोषणका भाव यत्न मैंने नहीं छोड़ा, अपनी बरबादी करके भी देख सब कुछ खोकर भी तेरे पोषण के लिए ही मैं सब कुछ करता रहा। अब तू मेरे साथ चल। तो शरीरका यह जवाब होगा कि अरे प्राणी, तू बावला होकर बोल रहा है क्या? मैं तो बड़े बड़े चक्री, तीर्थंकर पुरुषोंके साथ भी नहीं गया। जो सिद्ध हो जाते हैं उनसे बड़ा और कौन है? शरीर कपूरवत विलीन हो जाता है, सिद्धके साथ भी यह नहीं जाता है और यहां पर भी जो सिद्ध नहीं हुए, स्वर्ग आदिक गतियोंमें उत्पन्न हुए वे भी इस शरीरको छोड़कर ही अकेले जाते हैं।

अनर्थ शरीरसे प्रीतिके परिहारका उपदेश—इस शरीरसे तेरा कोई वास्ता नहीं, यह तो तेरी बरबादीके लिए ही संगमें लिपटा है। मैं तो स्वयं ज्ञानघन हूं, आनन्दपुंज हूं, स्वयं समर्थ हूं, प्रभु हूं, लेकिन ये सम्बन्ध, ये शरीरसंयोग मेरी बरबादी पर ही उतारू हैं और फिर मैं इस शरीरके पोषणमें ही विकल्प बनाये रहूं यह कहां तक उचित है? अब तू इस शरीरसे प्रीति तज और जो इष्टजन मित्रजन आदिक हैं उनसे भी तू प्रीति छोड़ दे।

न कोऽप्यन्योऽन्येन ब्रजति समवायं गुणवता,
गुणी केनापि त्वं समुपगतवान् रूपिभिरमा।
न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमति--
स्ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदुःखे भववने ॥२००॥

वस्तुस्वातन्त्र्यके अवगमसे मोहका परिहार--देख कोई भी पदार्थ किसी भी दूसरे पदार्थसे एकमेक कभी हो ही नहीं सकता और की बातको अधिक क्या समझाना, खुद ही देख लो। कोई जीव किसी दूसरे जीवसे एकताको प्राप्त नहीं होता। सबके अपने अपने परिणाम जुदा जुदा हैं। प्रत्येक जीव अपने ही परिणामोंसे परिणम होकर अपना ही अनुभव करता है। कोई किसी दूसरेका कुछ नहीं है। और तू कर्मप्रेरणासे इन रूपीपदार्थों में ममत्वकर रहा है। ये पुद्गल जो त्रिकाल भी तेरे नहीं हो सकते जिनसे तू प्रीति कर रहा है। जिन रूपोंसे तू प्रीति कर रहा है वे प्रीतिके लायक नहीं हैं। तू बुद्धिहीन होकर आत्मपदसे भ्रष्ट होकर बाह्यमें इन रूपीपदार्थों से प्रीति कर रहा है। वस्तुस्वरूपको अपने उपयोगमें नहीं लेता। प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र है। भले ही ये पदार्थ किसी परद्रव्यका निमित्त पाकर विकार और विभावरूप परिणम जाते हैं तब भी किसी निमित्तको कोई अंश लेकर वह विभावरूप नहीं बनता। किन्तु इसमें खुद ही ऐसी योग्यता पड़ी है कि अमुक प्रकारका निमित्त पाये तो अमुक प्रकारकी कषायोंसे परिणम जाता है। वस्तुवोंके स्वरूपको स्वतंत्र स्वतंत्र देखने पर ही इस मोहका परिहार होता है।

वस्तुस्वरूपके बोधसे उद्बोधन—देख लो भैया! जैनशासनमें सबसे अधिक जोर वस्तुस्वरूपके ज्ञान करनेपर दिया है। प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्यय ध्रौव्यरूप हैं। उसमें शिक्षा और क्या बसी है? प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमनसे अपना उत्पाद किया करते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणमनसे अपनी पूर्वपर्यायको विलीन करते हैं। और प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अपने स्वभावसे रह रहकर ध्रुव बना हुआ है। अब बतलावो किसी पदार्थमें कहीं ऐसी गुञ्जाइश है कि वह मेरा बन जाय। त्रिकाल असम्भव बात है। कोई पदार्थ किसीका कुछ बने, यह असम्भव है। असम्भव बातको कल्पनामें सम्भव बनानेकी चाह करे कोई तो उसका फल मात्र क्लेश है। इन शरीरादिक पुद्गलोंसे तू एकता मानेगा, अपना स्वरूप मानेगा, आसक्त होगा तो भव-भवमें तू भ्रमण करेगा और दुःखी होगा। छेदा जायगा, भेदा जायगा, मारा पीटा, ढकेला जायगा। तू कहां भूला हुआ है? इन देहादिकके ममत्व को तू तज दे।

अपनी सम्हालके यत्नमें सफलता—देखिये किसी पुरुषपर या किसी

स्त्रीपर कोई ऐसा वातावरण छाया हो कि उसके कुटुम्बके या पड़ोसी विरुद्ध हो गए हैं, परस्परमें लड़ाई झगड़े चलते हैं, ईर्ष्या है, चित्त नहीं मिलता है, ऐसी एक दु:खकारी स्थिति बनी हुई है तो कुछ विचारो तो सही, क्या स्थिति बनती है ? जब तक अपने वास्तविक आत्मस्वरूपको न जाने तब तक ही तो विकल्पोंका यह जाल गुथता रहता है । इन विकल्पों से कुछ सिद्धि नहीं होती है । ऐसा वातावरण भी छाया हो तो भी कुछ चिन्ता मत मानो । इस बातके अमुक यों विरुद्ध है, अमुकसे यों नहीं बनती । तू किसीसे ईर्ष्या मत कर तू दूसरोंके विनाशकी मनमें बुद्धि न बना । कैसी ही कुछ गुजर रही हो, तू अपने आपको सावधान रखनेका प्रयत्न कर । किसी जीवपर विरोधभावकी दृष्टि मत दे । काम निकाल । अब गुप्त ही गुप्त अपने ही आपमें अपने स्वरूपका उपयोगी बनकर आत्मलाभ ले, तृप्त और संतृप्त बन । एक इस आत्मदर्शनके सिवाय अन्य किसी वाह्य प्रसगमें तू कुछ भी लाभ न उठा पायेगा ।

संयोगसे असिद्धि--पुण्योदयवश यदि बहुतसा वैभव मिल गया है तो उससे कौनसा पूरा पड़ेगा ? बल्कि ये सब प्रसंग तो आकुलताके ही कारण हैं । इन बाह्य प्रसंगोंसे अपने चित्तको विरक्तकर जिससे अपने आपकी साधनासे ज्ञान और आनन्दका विकास बने । इन देहादिकसे प्रीति करके तू लाभ न पा सकेगा । ये समस्त रूपीपदार्थ ये सब परमाणुवोंके पुञ्ज तुमसे अत्यन्त भिन्न हैं । और तुमसे ही भिन्न क्या, जितने परमाणुवोंसे यह पिण्ड बना हुआ है स्कध वे सब परमाणु भी परस्परमें एक दूसरेका स्वरूपग्रहण नहीं किए रहते । वे भी भिन्न हैं, पर मिलकर एक बंधरूप हो गए हैं । जब इन पुद्गलस्कधोंमें भी परमाणु परमाणु प्रत्येक परस्पर न्यारे हैं तो फिर तू तो चेतन है और ये शरीर आदिक अचेतन हैं । ऐसे अत्यन्त विजातीय चेतन और अचेतनका कैसे सम्बन्ध हो सकता है ? तू इससे कैसे मिल सकता है, इस कारण तू अपने आपमें केवल अपने स्वरूपको मान, देहादिक परपदार्थोंसे तू ममता त्याग दे ।

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोदरौ ।
प्रान्ते अन्तोर्जरा मित्र तथाप्याशा शरीरके ॥२०१॥

तेरा वर्तमान कुटुम्ब--देख अभी तो तेरा ऐसा कुटुम्ब है । तेरी माँ तो है उत्पत्ति अर्थात जन्म और पिता है मरण और साथ उत्पन्न हुए भाई कौन है ? आधि और व्याधि । तेरा जो वर्तमान परिवार चल रहा है उस परिवारको बात कही जा रही है, ये आधि और व्याधि तेरे भाई है और तेरे साथ जो बुढापा लग रहा है वह है तेरा मित्र । समय गुजरने के कारण जो कुछ क्षीणता हीनता होती है वह तेरा मित्र है, ऐसा तेरा

कुटुम्ब हैं। अब जरा पन्ना पलटकर देख अन्तरङ्गमें तो तेरा स्वरूप, तेरा गुण, तेरी शक्ति, तेरी प्रकृतियां ये सब तेरे कुटुम्ब हैं। अब बाह्यमें देखो तो तेरे ये कुटुम्बी हैं।

शरीर कारागार—अच्छा, भैया! और भी देखना है तो देख—यह शरीर तो तेरा कारागार है, इस जेलखानामें चारों ओर विकट ताले लगे हैं, कहाँको भागोगे? जब उस कैदकी अवधि पूरी हो जायेगी तब ही तू भाग सकेगा। भाग अच्छा, देखें तू कैसे भागता है? हम आपको बुलायें कि कल आप १० बजे दिनमें अकेले आना दावत करेंगे सो आप का निमंत्रण है। आप अकेले आना, किसी दूसरे को संगमें न लाना। आप १० बजे दिनमें दूसरे दिन पहुंच जायें तो हम यही तो कहेंगे कि भाई साहब हमने तो आपको अकेले आने को कहा था, आप दूसरे को साथमें क्यों ले आये? तो आप कहेंगे वाह अकेले ही तो आये हैं, कहाँ दूसरे को साथ लाये हैं। अरे भाई अपने साथमें यह शरीरका पिंडोला भी तो ले आये हो। हमने तो जो कहा था वही तुम्हें करना चाहिए था। तो बताओ कैसे आप अकेले आयेंगे? यह शरीरका पिंडोला तो साथमें लगा है, यह शरीर तो इस जीवका पक्का कारागार है, इसको छोड़कर कहीं जाया भी नहीं जा सकता।

बन्धन और चिकित्सा—एक तो यह देह स्वयं कारागार और फिर दूसरे ये भाई बन्धु स्त्री पुत्र ये सब पहरेदार हैं, कहीं जा नहीं सकता। अरे भाई क्यों विकट कैदी बने फिर रहे हो? यहाँ कैदी पुरुष तो किसीके कहे सुने कुछ छुट्टी भी पा लेते हैं पर इस आत्माको इस शरीरमें ऐसी कैद है कि इसे रंच भी छुट्टी नहीं मिलती। तो ये बन्धुजन स्त्री पुत्रादिक इसके पहरेदार हैं। देखते जाइए कैसा यह प्राकृतिक बंदीगृह है। क्या उपाय रचा जाय कि यह आत्मा सर्वसंकटोंसे छूटकर वास्तविक आत्मीय आनन्दको प्राप्त हो? क्या करें? जब बाहरमें देखते हैं तो इतना विकट बन्धन मालूम होता है, लेकिन जब अन्तरङ्गमें स्वरूपकी ओर निरखते हैं तो जो होना है होने दो, इसको कोई संकट नहीं है। परपदार्थ हैं, जो परिणति होती हो होने दो उनके ज्ञाताद्रष्टा रहो। तो फिर दुःख कहांसे होता?

निमित्तदृष्टिका झुकाव और विकार—किसी बालकको दूसरा बालक अंगुली मटकाकर चिढ़ाता है तो जो बालक चिढ़ता है वह न चिढ़े, फिर चिढ़ाने वाला कैसे पीछे पड़ सकता है। होलीके दिनोंमें कोई मसखरा बूढ़ा बच्चोंको किसी प्रकार सिखा देता है कि तुम हमारे ऊपर धूल डालना। अब जिस घरसे उसकी कुछ अनबन है उस दरवाजे पर आकर वह बैठ

जाता है, बच्चे लोग ढेला, पत्थर, मिट्टी, कीचड़ फेंक-फेंक कर उसे मारते हैं। यों उसका सारा घर खराब हो जाता है। यह देहातोंमें होने वाली एक प्रथा है। उस बूढ़ेके भी लग जाता है, दु:खी होता है, किन्तु अन्दरमें दूसरेके बिगाड़की वासना बनी हुई है, सो खुद ठुकपिटकर भी दूसरोंको बरबाद करनेकी धुनमें लगा है, ऐसे ही यह संसारी प्राणी रागद्वेष करके अपनी बरबादी सह रहा है, पर रागद्वेषसे विराम नहीं लेना चाहता।

निर्बाध निजएकत्वकी दृष्टिका अनरोध— अरे कहाँ है तेरा कुटुम्ब? सब मायाजाल है। ये सब तो केवल काल्पनिक बातें हैं। इस जन्म और मरणके बीचमें तू पड़ा हुआ है, आधि व्याधियोंसे परेशान हो रहा है, रागद्वेषकी ज्वालामें जल भुन रहा है और फिर भी तू इस शरीरमें ममता कर रहा है यह बड़े आश्चर्यकी बात है। अरे तू निर्बाध स्वरूप है, और बाधाओंका घर जो यह शरीर है इस शरीरमें तू प्रीति करता है? वस्तुके स्वरूपको देख और वस्तु जिस एकत्वको लिए हुए हैं उस एकत्वको लिए हुए हैं उस एकत्वमें तन्मय उस पदार्थको निरख। ऐसा किए बिना तू संसारके संकटोंसे छुटकारा न पा सकेगा।

शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोऽप्यमूर्ती—
प्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोऽसि।
मूर्तं सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र,
किं वा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥२०२॥

शुचि आत्माका भी बन्धन—हे आत्मन्! मूलकी बात तो यह है कि तू शुद्ध है अर्थात् निर्मल है पर उपाधि सम्बधसे रहित है। दूसरी बात यह है कि तुम्हारा ज्ञानप्रकाश इतना विशाल है ऐसा स्वभाव है कि समस्त निज और परका तू ज्ञाता बन जाय। तीसरी बात अमूर्तिक है। ये तीन तुम्हारी खास विशेषताएँ हैं, फिर भी तुझको इस जड शरीरने अशुचि कर दिया है। शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र यह आत्मा और इसकी आज क्या दशा बन र ी है? कहाँ तो अमूर्तिक शरीरके बन्धनमें पड़ा है, हजारों विकल्पोंमें उलझा है, न करनेकी बात उसे भी कर रहा है, परपदार्थ अपने कहा हैं पर उनमें कैसा लिप्त हो रहा है, कितनी विह्वलता तुझमें आ गयी है।

शुचि अशुचिका गजबका बन्धन—अहो, देख तो किस परद्रव्यके साथ तेरा बन्धन बना है। जो यह शरीर अशुचि है, अचेतन है, और जितनी सुगंधित वस्तुवें हैं उन्हें भी जो दुर्गन्धित बना देता है। केसरमें सुगंध आती है उसे सिर पर लेप करो तो दुर्गन्ध आती है। कपूरसे कितनी सुगंध आती है, शरीरमें लेप करो तो दुर्गन्ध आती है। आपके नहाये हुए पानी से कोई दूसरा नहा लेगा क्या? एक बड़े कोपरमें बैठकर आप नहा लीजिए

तो फिर उसमें कोई दूसरा न नहायेगा, वह अपवित्र हो गया। तब यह शरीर भी धिक्कारके योग्य है सो तो ठीक है, पर शरीरके मोहमें पड़ा हुआ तू क्या धिक्कारके योग्य नहीं है ।

शरीरसे प्रीति तजनेमें सिद्धि—इस शरीरके सम्बंधसे तू महादुःखी हुआ है। चारों गतिके दुःख भोगे हैं। तू भी इस शरीरके सम्बंधसे अशुचि कहलाने लगा। अब इस शरीरसे प्रीति तज दे। मायने जो तू इस शरीर से मोह करता, प्रेम करता, खुश होता यह मैं हूं ऐसा जानकर। इसमें जो तू हर्ष मानता है एक तो इस आसक्तिको छोड़ दे, दूसरी बात इस शरीरके जो विषयसाधन हैं उन विषयसाधनोंसे प्रीति तज दे, यही है शरीरसे प्रीति तजनेका तात्पर्य।

हा हतोऽसितरां जन्तो येनास्मिंस्तव साम्प्रतम् ।
ज्ञानं कायाऽशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसः ॥२०३॥

शरीरके रागमें बरबादी—हाय रे प्राणी तू मारा गया, ठगाया गया, इस शरीरकी ममतासे तू अति दुःखी हुआ। देख तो केवल दुःख है तो ममताका है। जिस-जिसके जालमें अपनेको फँसा माना यह सब क्या है? मात्र ममता। कोई चीज तो अपनी होती नहीं है, उसे अपनी मानो तो, न मानो तो। केवल एक ममता परिणाम करके यह जीव व्याकुल बना रहता है। मेरा है मेरा है, है क्या? कुछ नहीं। इस अशुचि शरीरको अपना मान रहा है यह जीव। इस शरीरको कितना अशुचि कहा जाय? चाहे कितना ही पेट साफ हो जाय पर हर समय करीब २॥ सेर मल न पड़ा रहे तो कोई जीवित न रह सके। अपने शरीरको या दूसरेके शरीरको निरखकर इसे यों ही सुहाता है, वाह कितना अच्छा शरीर है। अपने शरीरको घृणाकी दृष्टिसे कोई निरखता है क्या?

ज्ञानकी आत्मरक्षता—इस शरीरके अशुचिपनेका ज्ञान होनेका नाम ज्ञान है और शरीरको शुचि मानता रहे यही अज्ञान है। शरीरसे ममत्वका त्याग कर देना यही एक बड़ा भारी साहस है। जिसे लोग कहते हैं कि एकदम ममत्व छोड़ दिया। इस प्रकारसे इस शरीरको परद्रव्य जानकर किसी क्षण ममताका त्याग करनेकी सुध ले तो मोक्ष मार्ग फिर और किसका नाम है? यही शान्ति मार्ग है। ज्ञानदृष्टि ही सच्चा पिता है, मित्र है, गुरु है, देव है, रक्षक है। अपना सर्वस्व ज्ञानदृष्टि है। ज्ञानमयी दृष्टि रहे तो इसमें आत्माका लाभ है। अनादिकालसे यह जीव अपने स्वरूपको न जानकर परको यह मैं हूं, ऐसा मानकर दुःखी हो रहा है। जहाँ शुद्धआनन्द का अनुभव नहीं किया जा सकता और आकुलता व्याकुलतामें यह लीन रहता है, सो यह बरबादी ही तो है।

चक्रवर्तीकी परेशानी—भैया ! जिस जिसका संयोग हुआ है उन सबको छोड़कर तो जाना ही पड़ेगा, कुछ साथ न जायेगा। और अब भी कुछ साथ नहीं है, केवल एक आपका परिणाम आपके साथ है। जैसा जाल गूथा, जैसा मायाचार किया, जैसा विषय कषाय हुआ केवल उस परिणाम तक ही तो आप हैं, इसके आगे कुछ नहीं। इतने विकल्प-जाल किए जा रहे हैं, उसका फल जरूर भोगना पड़ेगा। मिलता कुछ नहीं है। अज्ञानी जन किसी धनीको या किसी कलावानको या किसी बड़े धनिकको देखकर उसे उपादेयकी दृष्टिसे देखते हैं—स्थिति तो यह है ग्रहण करने योग्य, पर ज्ञानीजन उसे दयापात्रके रूपमें देखते हैं। कितना कष्ट है धनिक पुरुषको कि परमाणु मात्र भी तो इसकी आत्माका कुछ नहीं है, व्यर्थमें यह धनिक धनके पीछे दुःखी हो रहा है, विह्वल हो रहा है। ऐसा निरखकर ज्ञानीजन तो उसपर दयाका भाव रखते हैं।

शुचि स्वरूपकी दृष्टिका कर्तव्य—देख यह शरीर अशुचि और तेरा स्वरूप महापवित्र तेरेमें शरीरका कुछ सम्बन्ध नहीं, लेकिन एक अशुचि पदार्थमें हठ करने से तू इतना दुःखी हो रहा है। तू इस देहसे ममता तज। अपने निर्ममत्व ज्ञानमात्र सहज सिद्ध अपने आपकी सत्ताके कारण जो सहजस्वरूप है उसको निरख और उसको ही अंगीकार कर।

अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न मुनिः खेदमृच्छति।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेऽपि नदीजले ॥२०४॥

रोगादिकोंसे भी ज्ञानीकी अखिन्नता—बड़े-बड़े रोग आदिकसे भी मुनिजन, ज्ञानीजन खेदको प्राप्त नहीं होते। सब एक ज्ञानका चमत्कार है। जरासी कायरता बनें और बाह्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि लगे स्नेहके रूपमें तो वह रूप बढ़ बढ़कर एक अनर्थका ढग बन जाता है और एक परखमयी दृष्टिसे ज्ञानका उपाय चले ज्ञान चले तो यह ज्ञान भी बढ़-बढ़ कर इसे सहज आनन्दको प्राप्त करा देता है। जरा सी रिपट हुई तो रिपटकर पूरा गिर जाता है, पर जिन्हें अपने आपके स्वरूपकी सुध है वे कितने ही रोगोंसे घिरे हों पर खेदको नहीं प्राप्त होते।

सनत्कुमार चक्रीका साहस—सनत्कुमार चक्रवर्ती जिसके रूपकी प्रशंसा स्वर्गोंमें गाई जाती थी। निर्ग्रन्थ साधु हो गए, पूर्वकर्मोदयवश उनके चर्मरोग विकट हो गया, कुष्ट हो गया, अब देवता लोग दुबारा परीक्षा करने आये। पहिले तो रूपकी परीक्षा की थी, अब ज्ञानकी परीक्षा करने आये। वैद्यका रूप धरकर चार-चार छः छः चक्कर लगाना शुरू किया, मेरे पास कुष्ट रोगकी बड़ी पेटेन्ट दवा है। सनत्कुमार चक्रवर्तीसे कहा महाराज ! हमसे कुछ सेवा लीजिए, दवा करवाइए। तो सनत्कुमार

बोले ठीक है हमारा रोग मिटा दो तो यह तुम्हारी बड़ी अच्छी कृपा होगी। मुझे रोग है जन्म और मरणके चक्रोंका, ससारभ्रमणका, मेरे इस रोगको मिटा दो। देवाता पैरोंमें गिरकर बोले—महाराज इस रोगको मिटानेमें हम असमर्थ हैं, आपही इस रोगको मिटा सकते हैं। बड़े-बड़े उपसर्गोंमें भी मनिराज खेदको नहीं प्राप्त हुए।

स्वरूपकी संभालमें क्षोभका अभाव—अब अपने लिये इतनी बातका तो यहां ही अन्दाज कर लो, आपकी कोई निन्दा करे, गाली दे और आप कुछ अपनी ज्ञानदृष्टिके निकट बैठ रहे हों, कुछ ज्ञानकी बात समायी हुई हो तो आपको खेद नहीं होता या अधिक नहीं होता, और जब अपने आपके ज्ञानसे चिगकर इस मूर्त शरीर पर दृष्टि जायेगी तो वहां आपको खेद होगा, बड़ी विह्वलता हो जायेगी। साधुजन ज्ञानदृष्टिमें निरत रहा करते हैं, उन्हें उपसर्ग और रोग आदिकसे इसी कारण खेद नहीं होता जैसे नदीमें कितना ही जल चढ़ जाय पर जो मजबूत नाव पर बैठा होगा उसे रंच भी क्षोभ न होगा, अधीर न होगा, ऐसे ही जो अपने मजबूत स्वरूप दुर्गमें बैठा होगा उसके भी कोई क्षोभ नहीं आ सकता।

शान्तिका यथार्थ उपाय—हम शान्तिके लिए बाहरी चीजोंके संग्रह विग्रह करनेका प्रयत्न करते हैं पर शान्ति नहीं मिलती है। अरे शान्ति तो तब मिलेगी जब अपने ज्ञानको संभाल लें। अपने आकिञ्चन्यस्वरूप का ज्ञान करें, निजको निज और परको पर जान लें तो उससे शान्ति प्रकट होती है। मोहसे वेदना उत्पन्न हुई तो उस वेदनाको मिटानेके लिए मोह ही किया जा रहा है। किसी कपड़ेमें खूनके दाग लगे हैं और उन दागों को मिटानेके लिए खूनसे ही धोया जाय तो क्या दाग छूट सकते हैं? कदापि नहीं छूटते। यों ही शान्ति पानेके लिए अशान्तिके काम किए जा रहे हैं तो क्या शान्ति प्राप्त हो सकती है? नहीं प्राप्त हो सकती है। बाहरी पदार्थोंके संचयसे शान्ति न होगी। मान लो जो आज लखपति है, करोड़पति हैं, न होती ऐसी स्थिति, अत्यन्त गरीब होते तो अपनी कल्पना कहां तक बनाते? उससे भी अधिक आज मिला है तिस पर भी शान्ति न हो तो यह निर्णय कर लीजिए कि बाह्य पदार्थोंका संचय शान्तिका उपाय नहीं है किन्तु अपने आपके ज्ञानस्वरूपका ज्ञाता रहना, यही शान्तिका उपाय है।

आन्तरिक साहस—साधुजन अपने अन्तरङ्गमें शान्तिप्रद ज्ञानमयी प्रयत्न किया करते हैं जिससे चढ़े हुए रोग उपसर्ग आदिकसे भी वे खेदको नहीं प्राप्त होते। कोई आपके किसी स्थान पर बैठा होगा तो आप उसे बाधक समझ लेंगे, आप उससे ईर्ष्या करने लगेंगे, उसका आप नुक्सा-

करनेका यत्न करेंगे, पर यह उपाय न बन पायेगा कि मैं अपने ज्ञानको संभालूँ और उस माने हुए विरोधी पुरुषको भी उस शुद्ध चैतन्यतत्त्व-स्वरूप निरखूँ। यदि यह जान बूझकर भी मेरे अपमानके लिए मेरे विरुद्ध कुछ कल्पनाएँ बनाता है तो भी इसका क्या अपराध ? यह तो एक विभाव औपाधिक भाव उत्पन्न हुआ है, यह तो अब भी शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप है। यों दृष्टिमें विरोधीपन न जगे ऐसा उपाय करनेमें शान्ति है। इसने ऐसा किया, इसका ऐसा खोटा भाव है, इस बात पर दृष्टि ले जाकर यह मोही जीव अपने को दुःखी कर डालेगा पर ज्ञानदृष्टिका उपाय न बना पायेगा। यह एक शुद्ध महान् साहसकी बात है।- ये मुनिजन इस साहसके धनी हैं इस कारण वे किसी भी परिस्थितिमें खेद नहीं किया करते हैं।

जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा,
नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात्।
लग्नाग्निमावसति वह्निमपोह्य गेही,
निर्हाय वा व्रजति तत्र सुधीः किमास्ते ॥२०५॥

शरीरकी द्विविध चिकित्सा—जिसे कोई रोग हुआ है तो उस समय क्या करता है ? उसका कोई उपाय बनाता हैं। अणुव्रती श्रावक गृहस्थजन तो उस रोगको दूर करने के लिए निर्दोष औषधि आदिकका सेवन करते हैं, रोग और भी प्रबल हो जाय, मरणासन्न अवस्था हो जाय तो अनशन आदिक तपश्चरण करके मोह तजकर इस शरीरको छोड़ देते हैं। शरीर को यों ही अकालमें नष्ट कर देना तो विवेक नहीं है, इस कारण औषधि आदिकका सेवन करके शरीरको राखें तो यह कोई दोषकी बात नहीं है। उस समयका कर्तव्य है। और जब देखे कि यह शरीर राखे भी नहीं रहता तो उस समय इस शरीरको निरख-निरखकर इसको छूटता देख देखकर रोना कर्तव्य है क्या ? इस शरीरसे ममत्व तजकर यह १० मिनट बाद तो जाना ही है तो मेरे जान अभी चला गया, यह समझकर ज्ञानी अपने आपके उस शुचि ज्ञानमय स्वभावमें अपनेको बसाये रहता है।

दृष्टान्तपूर्वक शरीरके प्रति अपना कर्तव्य— जैसे घरमें आग लग गई हो तो विवेकी पुरुष उस आगको बुझाकर अपने घरमें ही बसता है। और ऐसी प्रबल आग लगी हो कि वह बुझ ही न सके, ऐसा जानकर कि आध घन्टेमें ही यह साराका सारा घर खाक हो जाने को है तो वह क्या करता है कि उस घरकी ममता छोड़कर दूर जाकर बसता है। ऐसा कोई नहीं करता कि रे घर तुझे मैंने बड़े प्रेमसे बनवाया, अब तू जल रहा है तो ले तेरे साथ मैं भी चिपट कर जल जाऊँगा। कैसा ही श्रम करके घर बनवाया हो पर उसके जलनेपर उससे चिपट कर कोई नहीं जलता। घर जला जा

रहा है, अभी जलकर खाक होने को है, ऐसा जानकर वह दूर जाकर तक योग्य औषधि आदिक देकर रोग दूर करता। हे ज्ञानी! उसको रहता हुआ समझमें न आये तब मोह करके, शरीरके पीछे विलाप करके कौनसा लाभ लूट लिया जायेगा? उस समय तो यही कर्तव्य है कि शरीरका ममत्व छोड़कर अपने आपके स्वरूपमें तीव्र रुचि प्रकट करना। देखिये धर्मके धनी दो हैं— श्रावक और मुनि। तो श्रावककी तो ये दो रीतियां बनाईं और साधु इच्छा करके औषधिका सेवन नहीं करते। सुगमतासे हो गया तो हो गया और शरीर रहता न जाना तो उस समयकी दोनोंकी प्रक्रिया एक है, ममता छोड़े और सल्लेखना धारण करे। अपना निर्णय दृढ़ बनाओ ऐसा कि यह शरीर प्रीतिके योग्य नहीं है।

शिरस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥२०६॥

दुःखमें भी अज्ञानीकी सुखमान्यता—जैसे कोई लकड़हारा शिरपर लकड़ियोंका बोझ लादे चला जा रहा है। बोझके मारे उसका सिर दर्द करने लगे तो सिरसे भार उतारकर कंधे पर वह रख लेता है और कंधे पर वह गट्ठा रखकर अपने आपको सुखी अनुभव करता है। इस ही प्रकार ये अज्ञानी जीव शरीरमें रोग नष्ट होने से अपने को सुखी मानते हैं, पर यह नहीं देखते कि शरीरका सम्बन्ध होना मिलना यह स्वयं एक महारोग है। किसी भी प्रकारकी कोई इन्द्रिय सम्बन्धी बाधा दूर हुई तो उसमें यह जीव अपने को सुखी मानता है, पर यह नहीं जानता कि हम तो वेदनाओंके वनमें गुजर रहे हैं, एक वेदना हटी कि दूसरी वेदना तैयार है, यों हजारों वेदनाएँ एक पर एक आती रहती हैं। वहाँ देखा जाय तो जैसे लकड़ीका बोझ सिरसे उतार कर कंधेपर रख लेने से उसका भार दूर नहीं हुआ ऐसे ही जगतके जीवोंका कोई भी रोग मिटे या कोई वेदना शान्त हो तो उससे वेदनाओंका भार तो नहीं हटा। वेदनाएँ तो अभी ज्योंकी त्यों हैं। पर यह मोही जीव कभी-कभी अपनी कल्पनाके अनुसार कुछ वैभव पाकर अपने को सुखी मानते हैं, वस्तुतः ये सुखी नहीं हैं। सुख तो तब है जब शरीरका विभावोंका, कर्मोंका अभाव हो और कैवल्य अवस्था प्रकट हो तो उसमें ही शान्ति है, अन्यत्र शान्ति मानना मूढ़ता है।

यावदस्ति प्रतीकारस्तावत्कुर्यात्प्रतिक्रियाम्।
तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया ॥२०७॥

वेदनाकी दो प्रतिक्रियायें —जब तक रोगकी उपशान्ति नहीं होती तब तक ज्ञानीजन योग्य औषधिका ग्रहण करते हैं और जब रोग

न देखा तो फिर उसका विकल्प नहीं करते। अपने शरीरका विकल्प होना यही एक एक बड़ा यत्न है। कोई रोग हो तो रोग सम्बंधी दुःखको मिटाने यत्न है। कोई रोग हो तो रोग सम्बंधी दुःखको मिटानेका यत्न करना चाहिए ना? योग्य औषधिका सेवन करना चाहिए। इसको कहते हैं चिकित्सा? और जब रोग शान्त हो ही नहीं सकता तो फिर उसकी क्या चिकित्सा करें? एक ज्ञानप्रकाशमात्र निजस्वरूपकी दृष्टि करना चाहिए।

अन्तिम प्रतिक्रियाका मर्म—यहाँ दो बातें कही गयी हैं। रोग मिटानेके लिए औषधियोंका सेवन करें और जब रोग मिटता न दिखे तो फिर उस शरीरकी उपेक्षा कर आत्मचिन्तन करें। ऐसा ज्ञानबल बढ़ायें, ऐसा उपेक्षाभाव करें कि यों अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि ले जायें कि अतःतृप्ति उत्पन्न हो, यही वास्तविक चिकित्सा है। बड़े-बड़े साधुजन, ज्ञानीजन हर स्थितिमें इस ही चिकित्साको करते हैं। वे तो जानते हैं कि जब तक इस शरीरसे सम्बध है तब तक रोग ही रोग हैं। ये रोग कैसे दूर हों, इसका उपाय तो एकमात्र उपेक्षाभाव है। उपेक्षासे ज्ञानबल बढ़ता है। इस शरीरके मिलते रहनेके रोगको दूर करें, यही जो काम करे उसकी तो बुद्धिमानी है और जो बाह्यदृष्टि करके शरीरका रोग मिटाये तो वह बुद्धिमानीका काम नहीं है।

यदादाय भवेज्जन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति।
शरीरमेव तत्त्याज्यं किं शेषैः क्षुद्रकल्पनैः ॥२०८॥

सूक्ष्मशरीरकी भी त्याज्यता—जिसको ग्रहण करके यह जीव जन्म वाला बनता है, और जिसको त्यागकर यह जीव मुक्त हो जायगा वह शरीर ही त्यागनेके योग्य है। इस जीवके साथ दो प्रकारके शरीर लगे हैं— एक सूक्ष्मशरीर और दूसरा स्थूलशरीर। स्थूलशरीर तो एक भव छोड़नेके बाद नया भव ग्रहण करनेमें जो शरीर मिलता है— औदारिकशरीर मिले अथवा वैक्रियकशरीर मिले वे सब स्थूलशरीर कहलाते हैं। और यह शरीर मरणके बाद जिस शरीरको साथ लेकर गया, जन्म पानेके लिए जाता है वह शरीर सूक्ष्मशरीर है। उसका नाम है तैजसकार्माण। तो इस तैजसकार्माणशरीरको लेकर यह जीव जन्म वाला बना करता है, या यों कह लो कि नवीनशरीर मिलनेका कारण यह सूक्ष्मशरीर है। तो यह शरीर त्यागनेके योग्य है और इस शरीरका जब त्याग हो जाता है, तैजसकार्माण शरीर छूट जाता है तो यह जीव मुक्त हो जायगा। तो इस शरीरके त्यागने की ओर लक्ष्य रहना चाहिए।

धर्मपालनकी विधि व निषेध पद्धति—भैया! धर्मपालनके लिए विधिरूप तो आत्मदृष्टि सहजशुद्धज्ञानस्वरूपका आलम्बन, यह तो है विधिरू

कार्य और निषेधरूप कार्य विभावोका दूर करना, तैजसकार्माणशरीरका दूर होना यह है निषेधरूप कार्य। इसके अतिरिक्त जगतमें और कार्य करने योग्य हैं। जगतके अन्य कार्योंसे कोई सिद्धि नहीं है। केवल मोहकी नींदमें कल्पना बन रही है उस कल्पनासे अपने आपको सुखी माना जा रहा है।

संमीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति—एक बार राजा भोज रात्रिको लेटे हुए एक कविता बना रहे थे। उसी रातको एक कवि जिसे बहुत दिनों से इनाम न मिला था वह दरिद्रतासे दुःखी होनेके कारण राजा भोजके ही महलमें चोरी करने गया। उसे कुछ आहट मिली तो और जगह छिपनेको न मिलनेसे राजा भोजके नीचे छिप गया। राजा भोजने तीन छद तो बना लिए थे पर चौथा छंद न बन रहा था। छन्दके तीन चरण ये थे— चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः, सद्बान्धवाः प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्याः। गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गा', इस कवितामें राजा भोज अपनी सम्पदाका वर्णन कर रहा था। मेरी आज्ञाकारिणी स्त्री है, मेरा चित्त हरने वाली है, मेरे मित्रजन मेरे अनुकूल हैं, मेरे बन्धुजन बड़ी सुन्दर वाणी बोलने वाले हैं, नौकर भी बड़े विनयशील हैं, बड़े-बड़े हाथियोंके समूह गरज रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं, ये सारी बातें तीन चरणोंमें दिखा दी थीं। अब चौथे चरणमें क्या चीज दिखायें और कैसे बनायें, इस समस्यामें पड़े थे। सो बार-बार उन्हीं तीन चरणोंको पढ़ते थे कविताका चौथा चरण बन ही न रहा था। सो उस कवि चोरसे न रहा गया, सो नीचेसे चौथा चरण बोल देता है। चौथे चरणमें क्या कहता है—संमीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति नेत्रोंके बंद हो जाने पर फिर ये कुछ भी नहीं हैं।

सूक्ष्मशरीरकी त्याज्यताके हेतु—भैया! यही दशा है ना सबकी यहाँ, जब तक यह जीवन है तब तक ही यह मोहकी नींद है। बड़ी लम्बी नींद है, जितना भव है उतनी नींद है। इस नींदमें कल्पनाएँ करके यह जीव अपना सब कुछ मान रहा है। मैं लखपति हूं, वैभवशाली हूं, इतने बच्चों वाला हूं ऐसी अच्छी गृहस्थी वाला हूं, ऐसी पोजीशन वाला हूं ये सब कुछ मान रहे हैं किन्तु है कुछ नहीं। तो भव छोड़कर इसे जाना ही पड़ता है और जो सूक्ष्म शरीर साथ लेकर जाता है वह सूक्ष्म शरीर नवीन जन्मका कारण बनता है। कुछ उपादेयसा बन गया, कुछ निमित्तसा बन गया और यह शरीर रच जाता है। आखिर स्थूलशरीरके रच जाने पर भी सूक्ष्मशरीर तो बना रहता है ना, तो इस शरीरमें उपादान रहकर भी रहता है और औदारिक वर्गणाएँ जुदी चीज हैं और कार्माण तैजसवर्गणायें जुदी चीज हैं, सो औदारिक शरीरकी रचनामें यह सूक्ष्म शरीर निमित्त कारण हो जाता है। यों जिस शरीरको लेकर यह जन्मपरम्परा

बनती है और जिस शरीरको छोड़कर यह मुक्त बनेगा, कर्तव्य तो यह है कि उस शरीरका ही त्याग करे।

सूक्ष्म शरीरके त्यागकी विधि—अब इस बात पर विचार करें कि इस शरीरका त्याग कैसे हो सकता है। कोई मान लो आत्मघात करले तो स्थूल शरीरका वियोग हो जायेगा, मगर ऐसी कौनसी चिकित्सा है कि यह सूक्ष्म शरीर भी इस जीवसे दूर हो जाय, वह चिकित्सा सिर्फ रत्नत्रयकी है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका विधिवत पालन हो तो इन शरीरोंका मिलना दूर होगा और यह निश्चय जानो कि जब तक सूक्ष्म शरीर दूर न हो तब तक हम आप नीरोग दशामें नहीं हैं, निराकुल दशामें नहीं हैं। अतः ज्ञानभावना बढ़ा बढ़ाकर मैं तो ज्ञानानन्दमात्र अमूर्तिक सबसे न्यारा चैतन्यतत्त्व हूं। अन्तरभावना बनाकर भावना बढ़ा कर इस तैजस कार्माण शरीरसे मुक्त होनेका यत्न करें।

ज्ञानबलका प्रताप—जब शरीरसे स्नेह करते हैं तो शरीर मिलेगा ही, जब शरीरसे स्नेह न रहेगा, शरीरसे उपेक्षाभाव करेंगे तो यह शरीर ही क्यों साथ रहेगा? यहाँ अपने शुद्ध स्वरूप पर दृष्टि देना है, इस जड़ वैभवके मिले हुए समागम पर दृष्टि नहीं देना है। इन समागमोंके प्यारसे मोहसे इस जीवको कुछ मिलेगा नहीं, उल्टा खोकर ही जायेगा। जो कुछ ज्ञानबल पाया, विशेष योग्यता पायी, स्थितियाँ पायी उन सबको मिटाकर ही जायेगा। शरीरकी उपेक्षा करके ज्ञानदृष्टिसे ज्ञानबल बढ़ाइये। ज्ञान ही एक हम आपका सहारा है। अन्य जीवोंसे अपना कुछ सहारा न मानो, परवस्तु तो आपत्तिके ही कारण हैं उन्हें निरापद नहीं कर सकते हैं।

> नयन्सर्वाशुचिप्राय शरीरमपि पूज्यताम्।
> सोऽप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्र धिगस्तु तत् ॥२०१॥

आत्मभावोंकी कलायें—सर्व अशुचिका मूल यह शरीर है, ऐसे भी शरीरमें पूज्यबुद्धि बनाई जा सकती है। भाव यह है कि जो पुरुष रत्नत्रय की साधना करता है उस पुरुषसे सम्बंधित जो शरीर है वह भी लोगोंके द्वारा पूज्य होता है। तो अब देखिये आत्मामें कितनी बड़ी पवित्रता है, इस रत्नत्रयरूप धर्मपालनमें कितनी उत्कृष्ट पवित्रता है? दुनियाके समस्त अशुचि पदार्थोंमें। अशुचि पदार्थोंका यह पिंड है शरीर। यह महा अशुचि है, इस शरीरको भी जो पवित्र बना दे उस चीजकी पवित्रताका अंदाज तो कीजिए। तो जो सर्व अशुचितावोंको लिए हुए है उस शरीरको भी जो पवित्र बना देता है वह है आत्मभाव और जो इस शरीरको चाण्डाल आदिक बना देता है, घृणाके योग्य बना देता है वह आत्मभाव देखिये। शरीरको पूज्य बना दे वह भी एक आत्मभाव है, रत्नत्रयभाव है, धर्मभाव

है और शरीरको जो अशुचि बना दे, उसका भी कारण आत्मभाव है। वे आत्मभाव खोटे रागद्वेष मोह संकल्प विकल्प अशुभ परिणाम हैं। ये शरीरको घृणाके योग्य बना देते हैं, तब हुआ क्या कि जो सदाचार हैं, रत्नत्रय हैं वह तो पूज्य है और जो दुराचार है मिथ्याज्ञान, मिथ्या दर्शन, मिथ्याआचरण हैं वे घृणाके योग्य हैं। ऐसे मिथ्या भावोंको धिक्कार हो।

धर्मभावकी उपादेयता—भैया! एक ऐसा भाव है जो शरीरको मनुष्यों के द्वारा, देवोंके द्वारा सेवनीय बना देता है और एक ऐसा भाव है जिसके कारण इस जीवका शरीर अशुचि बन जाता है, घृणाके योग्य बन जाता है। कोई उस शरीरको छूना नहीं चाहता तो अन्तमें यही निश्कर्ष निकला कि जो धर्मभाव है वह पवित्र है और जो अधर्मभाव है, पाप भाव है वह निंद्य तत्त्व है। ऐसे इस धर्मभावको जो कि मलिनसे मलिन वस्तुको भी पवित्र बना देनेका कारणभूत है वह धर्मभाव हम आप सब कर सकते हैं। एक दृष्टि करने भरकी देर है। जहाँ अपने आपकी ओर दृष्टि गई, आत्महितका भाव बना, निजको निज व परको पर जाना तहाँ फिर किसी भी प्रकारका बन्धन नहीं रहता है। है किसी को बन्धन नहीं, पर मान लिया है।

ज्ञानका व बन्धनका विरोध—श्री रामके पूर्वजोंमें एक वज्रवाहुकी घटना आयी है कि जब उनकी शादी हुई, स्त्री आई घर, तो स्त्रीसे बड़ा प्रेम करने लगे। पहिली ही बार जब स्त्रीका भाई लिवाने आया तो यह भी साथ-साथ चल दिया। ऐसा तो यहाँ पर भी कोई नहीं करता है। उनकी नई उमर थी अभी, राजपद मिलने को था, पर हुआ क्या कि स्त्रीके संगमें चले जा रहे थे। रास्तेमें एक मुनि महाराजको देखकर उनका चित्त ऐसा परिवर्तित हुआ कि उसी क्षण सारे विकल्प छोड़कर दैगम्बरी दीक्षा ले ली। लो अब कहाँ रहा बन्धन? जैसी चाहे स्थिति हो पर अपना ज्ञानबल बढ़ायें बस सारे सकट एक साथ दूर हो जायेंगे। अपने को परेशानी अनुभव करने वाला माने तो यह एक मोहकी नींदका स्वप्न है। परेशानी कुछ नहीं है।

ज्ञानीकी सावधानी—परमार्थदृष्टि बनाओ और देखो—बन्धन कुछ नहीं है। भला बतलावो तो सही कि यदि इसी समय मृत्यु आ जाय तो फिर कुछ बन्धन रहता है क्या? अरे कैसे मरें, मुझे तो अभी बड़ा बन्धन है, मुझे अभी अमूक कार्य करने को पड़ा है, मैं अभी कैसे मरूँ, ऐसा कुछ बन्धन तो फिर मरण समयमें नहीं आता है। जब चाहे तब अपने स्वभावको बन्धनरहित निरख सकते हो। सर्व परका त्याग, विकल्पों का त्याग कर सकते हो, ऐसी स्थिति सदा मानो। जैसे मिलेटरीके सिपाही

लोग सब काम कर रहे हैं, व्यवस्था कर रहे हैं, सब कुछ करते हुए भी हर समय इसके लिए तैयार रहते हैं कि जैसे ही विगुल बजा कि मारे धधे छोड़कर तैयार हो गए कमाण्डरके पास पहुंचनेके लिए। ऐसी ही तैयारी ज्ञानीकी होती है। भले ही यह रह रहा है गृहस्थीमें, भले ही अनेक प्रकारकी बातें कर रहा है पर ऐसा तैयार रहता है कि कोई विपत्ति आयी नहीं कि झट ज्ञानदृष्टि, ज्ञानभावना, आत्मश्रद्धान—इन सब तपस्यावोंको करके सर्वविकल्पोंको त्यागकर अपने अन्तःस्वरूपमें लीन हो जाता है। ऐसी ज्ञानी पुरुषकी तैयार रहती है।

जीवभावपर शरीरकी पूज्यता व घृणाकी निर्भरता--ये भाव इस शरीर को भी पूज्य बना देते हैं और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र और और भी खोटे आशय दुराचार ये सब इस जीवको जो शरीर मिल गया उसको घृणाके योग्य बना देते हैं। तो हमारी जो सृष्टियां हैं उन सृष्टियोंके हम ही तो कारण हैं। जैसा हम अपना भाव बनायें वैसी हमारी सृष्टि चलती है। हम ही हमारे शरण हैं अन्य कोई हमारा शरण नहीं है, ऐसा जानकर हम अपनी भावनाको संभालनेमें लगें, इस ही ओर दृष्टि दें, पुण्य पाप फलोंके ज्ञाताभर रहें, जाननहार भर रहें, उनसे अपना कुछ सम्बध न मानें, पक्का निर्णय रखें कि परसे मेरा कोई हित नहीं है, मेरा हित तो अपने आपके सहजस्वरूपकी दृष्टि है।

रसादिराद्यो भाग स्याद् ज्ञानावृत्यादिरन्वित'।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु ससार्येव त्रयात्मक ॥२१०॥

ससारी जीवकी त्रिभागात्मकता--संसारी जीव त्रिभागात्मक हैं। जो कुछ यहाँ दिख रहा है, समझमें आ रहा है, ये मनुष्य, पशु पक्षी, तिर्यञ्च, पेड़ वगैरा, ये सब ससारी जीव त्रिगात्मक हैं। इनमें प्रथम भाग तो रस आदिक रूप हैं। प्रथम भाग है शरीर जो रस रुधिर आदिक रूप है। दूसरा भाग है इसके भीतर ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंका, और इनके भीतर तीसरा भाग है ज्ञानादिक गुणपुञ्जका। इस प्रकार ये संसारी जीव त्रिभागात्मक हैं। जो जीव उस त्रिभागात्मकता को नहीं जानता है वह तो जो कुछ दिखनेमें आया, समझमें आया वही उनके लिए सर्वस्व है। जो इनको पहिचानता है वह तो इसमें जो हेय भाग है उसे छोड़ देता है और जो उपादेय भाग है उसे ग्रहण कर लेता है।

त्रिभागोंकी अवस्थिति--ये तीन भाग कुछ नीचे ऊपर नहीं है कि सबसे नीचे जीव हो, उसके ऊपर कर्म हों, कर्मोंका आवरण पड़ा हो, ऊपर शरीरका पलस्तर लगा हो, ऐसी कुछ नीचे ऊपर बात नहीं है, किन्तु यह उत्तरोत्तर सूक्ष्मताकी दृष्टिसे कहा जा रहा है कि प्रथम भाग तो शरीर

का है, द्वितीय भाग कर्मोंका है और तृतीय भाग निजभावका है। जहाँ यह प्रथम भाग है, शरीर है वहाँ सब जगह जीव भी हैं और कर्मजाल भी हैं। जहाँ कर्मजाल है वहाँ जीव भी है और शरीर भी है और यहाँ जहाँ शरीर है वहाँ कर्म भी है और शरीर भी है। तीनों एकक्षेत्रावगाही हैं पर प्रथम भाग, द्वितीय भाग और तृतीय भाग स्थूल और सूक्ष्मकी दृष्टिसे हैं, यह शरीर स्थूल है तीन भागोंमें, इसी कारण सर्वप्रथम जीवोंको वही नजर आता है और इस जीवमें क्या क्या है ऐसा कहने के लिए जब उद्यम होगा तो प्रथम स्थूल भाग कहा जायेगा वह है शरीर। उससे सूक्ष्म है ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोंका जाल यह कर्मजाल पुद्गल है, मूर्तिक है फिर भी सूक्ष्म है, प्रतिघात रहित है और उससे सूक्ष्म हैं जीव, जीवके निजभाव। ये तो अमूर्तिक हैं, इस तरह ये संसारी जीव त्रिभागात्मक कहे गये हैं।

भागत्रयमिदं नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम्।
भागद्वयात् पृथक्कर्तुं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥२११॥

तत्त्ववेविता--यह आत्मा बंध अवस्थामें है इस कारण त्रिभागात्मक है किन्तु जो पुरुष प्रथम और द्वितीय ऐसे इन दो भागोंसे इस तृतीय जीव को पृथक् करनेकी विधि जानता है वही वास्तवमें तत्त्वज्ञानी जीव है। इस संसारी जीव पर भावकर्मोंका ऐसा जाल बिछा है कि इसका उपयोग उन कर्मोंमें ही उलझ गया है और अपने शुद्ध स्वरूपकी इसे खबर नहीं है। ऐसी कठिन परिस्थितिमें बिरला ही कोई सुभवितव्य वाला जीव है जिसको यह सुध होती है कि यह मैं त्रिभागात्मक हूं, मैं नहीं, किन्तु यह संसारी जीव, मनुष्य, नारकी, तिर्यंच, देव ये जो शरीरी हैं, देही हैं, वे त्रिभागात्मक हैं। उसमें दो भाग तो अचेतन हैं और तीसरा एक भाग चेतन है। उन दोनों भागोंसे इस जीवको पृथक् करने की विधि क्या है? जान जावो कि शरीर और कर्मोंसे यह जीवतत्त्व जुदा है। ऐसी ज्ञानकी दृढ़ता रखना यही काम करनेका है। फिर कैसे कर्म जुदे होते हैं, कैसे शरीर जुदा होता है, इन सब बातोंमें विकल्पकी जरूरत नहीं है। ये कर्म स्वतः ही हट जायेंगे।

सारभूत अन्तस्तत्त्वके आश्रयणका पुरुषार्थ— यहाँ पुरुषार्थमें तो मात्र जीवको एक तत्त्वके ज्ञान करनेकी बात कही जा रही है। तत्त्व क्या है? आत्माका तत्त्व, सद्भूत, आश्रयके योग्य एक सहजस्वभाव है, वह सहजस्वभाव शुद्ध ज्ञानप्रकाशके रूपमें विदित होता है। सर्व परपदार्थ अहित रूप हैं, उनसे मेरी कोई भलाई नहीं है, ऐसा जानकर समस्त परकी ... करके तो देखो, अपना जो ज्ञानप्रकाश है वह उमड़ कर उपयोगमें

जायेगा। इस सारभूत तत्त्वका आलम्बन करने से ही दोनों भाग अपने आप दूर हो जाते हैं। कहीं मैं इन दोनों भागोंको दूर करूँ ऐसा विकल्प करने से और उन दोनों भागोंको दूर करनेके लिए शरीर और कर्मका उपयोग बनाये रहने से अथवा किसी प्रकारकी गुस्सा या अन्य भीतरमें तरंगभाव उठाने से शरीर और कर्म दूर नहीं हो जाते हैं।

उपशान्तताका प्रताप—प्रभुने इस क्रोधको पहिले ही दूर कर दिया, फिर उन्होंने कर्मजालका कैसे विनाश किया, यह कुछ समझमें नहीं आता, ऐसी आशंका न करना। क्रोधका विनाश करनेके बाद शान्त परिणामों से ये कर्म बैरी दूर हो जाते हैं। इन कर्मोंका विनाश शान्त होकर ही किया जा सकता है। इस शरीर और कर्मोंमें दृष्टि रखकर मैं इन्हें कैसे दूर करूँ ऐसा सोचने से कर्म दूर न होंगे। आप अपना काम कर लीजिए सब काम बन जायेगा। अपना काम है निज सहजस्वभावकी दृष्टि रखना, मैं तो मात्र ज्ञानस्वरूप हू, ऐसा ही उपयोग बनाये रहना और ऐसी ही अपनी चर्या रखना यह है इन दोनों भागोंको दूर करने की पद्धति। जो पुरुष शरीर और कर्म इन दोनोंसे इस जीवको पृथक् करनेकी विधि जानता है वही वास्तवमें तत्त्वज्ञानी है। उपयोग द्वारा, ज्ञानद्वारा शरीरसे अपने को न्यारा निरखना और शरीरका कारणभूत कर्मोंसे अपने को न्यारा निरखना श्रेयस्कर है। जो निरखे विविक्त ज्ञानस्वरूपको व उस निज भावसे रमण करे ऐसा जो यत्न करना जानता है वही तत्त्वज्ञानी जीव है। जो ऐसा न करके शरीरादिक परवस्तुओंमें रत होता है, यही मैं हू, ऐसी प्रतीति करके इसकी ही सेवामें बना रहता है और इस शरीर की ही सेवाके खातिर शरीरमें शरीरके विषयसाधनोंमें रमण करता है वह अज्ञानी जीव है।

करोतु न चिरं घोर तप क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन्न जयेद्यत्तदज्ञता ॥२१२॥

सकलविघ्ननिवारक ज्ञानबल प्राप्तिका अनुरोध—ज्ञानकी बात बताते हुए इस प्रकरणमें आचार्यदेव इतनी सी सरल बातको न कर सकने वाले साधुजनोंकी कृति पर कुछ खेद सा लाकर बोल रहे हैं कि हे साधु अथवा जो अपने आप सुकुमारता छाटा करे, अपने मनमें यह प्रतीति बनाए है अथवा स्वच्छन्दता बनी है—मुझसे कैसे उपवास होगा, मुझसे कैसे सर्दी गर्मी सहन होगी, कैसे तपश्चरण बनेगा, ऐसे आशय वालों को भी समझा रहे हैं, मानो एक झुँझलाकर ही कह रहे हैं कि ऐ नवाब साहेब, ऐ सेठ साहूकारों, तुमसे यदि घोर तप करते नहीं बनता है तो मत करो क्योंकि आप क्लेशको सह नहीं सकते, शारीरिक व्यथा आप सह नहीं सकते तो

ठीक है मत करो तपश्चरण, किन्तु इन कषाय विकल्परूप शत्रुवोंको जो कि केवल एकविचार और दृष्टिमात्रसे जीते जा सकते हैं उनको तू जीत। यदि उन कषाय वैरियोंको नहीं जीत सकता है तो हम तुम्हारी बेवकूफी समझेंगे।

कषायवैरियोंके विजयका सुगम उपाय—तपश्चरणकी बात, शरीरकी प्रकृतियां भिन्न भिन्न और फिर थोड़ा थोड़ा साहसकी कलामें भी अन्तर पड़ा रहता है। न कष्ट सहते बने तो मत करो घोर तपश्चरण। साधारणतया तो तप श्रम होना ही चाहिये, अन्यथा अध्यात्ममार्गमें गति नहीं बन सकती। जो आध आध घंटेकी प्यास नहीं सह सकते, दो एक घंटे भी भूख नहीं सहन कर सकते, अथवा भूख भी नहीं है केवल एक आदत बन गयी है। जो जरासा भी त्याग करनेमें असमर्थ हैं ऐसे जीवोंको आध्यात्मिक अनुभवकी पात्रता तो नहीं जग सकती। हाँ घोर तपश्चरण नहीं कर सकते तो मत करो, पर जो एक साधारणसी बात है, जिसे गृहस्थ पुरुष निभा सकते हैं ऐसे साधारण भी त्यागको नहीं कर सकते हो तो गति नहीं है आध्यात्मप्रवेशकी, कषाय वैरियोंको जीतनेकी। जहाँ मन हर बातमें मौज चाहता है कहाँसे वहाँ सहनशीलता आये। जो अपनेमें विकास नहीं करता ऐसा पुरुष तो उस अध्यात्मपथमें प्रवेश करनेका भी पात्र नहीं है। कुछ तो त्याग और तपश्चरणकी प्रकृति होनी ही चाहिए। हाँ घोर तपश्चरण नहीं करते बनता है तो मत करिये क्योंकि आप क्लेशको सहन करने में समर्थ नहीं हैं, लेकिन क्रोध, मान, माया, लोभ ये केवल एक सद्विचार बनानेसे ही जीते जा सकते हैं। सो इतना स्वाधीन कार्य तो तू कर ले।

क्रोधविनाशक विचार—भैया! किस पर क्रोध करना। सब परजीव हैं वे अपनी परिणति लिए हुए हैं, उनका परिणमन उनमें है। उनके परिणमनका असर मुझमें नहीं होता। यदि खुद ही अज्ञानी हैं तो दूसरोंकी परिणतिको देखकर अपनेमें यह विकल्प जगने लगा कि यह बड़ा बुरा है, यह मेरा ऐसा अनर्थ चाहता है, मेरा ऐसा विरोध रखता है, इसे मेरी उन्नति सहन भी नहीं हो सकती, ऐसे विकल्प करके खुद ही अपना प्रभाव अपने पर डाल लिया जाता है। ये सभी बातें यथार्थ यथार्थ सोचते जाइये। दूसरे जीवोंमें मूलमें जो सहजस्वभाव अन्तःप्रकाशमान है तद्रूप उसको निरखनेका उपयोग बनायें। क्रोधभाव तो जीता जा सकता है शान्त परिणामोंसे, सद्विचारोंसे। शरीरके बलसे क्रोधको नहीं जीता जा सकता।

मानमर्दकविचार—ऐसी ही बात मानकषायकी है। यह मान अर्थात् घमंड क्या चीज है? किस पर घमंड करना और घमंड दिखाकर, लोगों

को अपना बड़प्पन जताकर उन लोगोंसे क्या लाभ लूट लिया जायगा ? सब मायाजाल है। अपने स्वरूपको भूलकर दूसरे जीवोंकी दृष्टिमें भला जगनेकी उत्कंठा बन जाना यह तो महाव्यामोह है। यह कोई चतुराईकी बात नहीं है। इसके फलमें तो पतन है, अगला भव भी बिगड़ता है, इसमें कौनसी लाभकी बात लूटी जा सकती है ? सोचते जाइये। एक सद्विचार ही तो बनाना है, एक सम्यग्ज्ञान ही तो रखना है। ये घमंडके विषय विनष्ट हो जायेंगे। इस घमंडकषायको कैसे जीतें ? किसी दूसरे पदार्थके सहारे जीतें या किसी पदार्थसे भीख मागकर जीतें ? अरे केवल एक सद्विचार बनाने मात्रसे यह घमंडकषाय जीता जा सकता है। वस्तुस्वरूपके अनुसार अपने ज्ञानकी पद्धति बनायें कि यह मानकषाय नष्ट हो गया।

मायाहारीविचार--मायाकषाय-- छल कपट करना, ऊपरमें कुछ दिखाना, भीतरमें कुछ भाव रखना, इस मायाचारसे क्या भला होगा ? मायाचारी पुरुष समझता है कि मैं दूसरोंको उल्लू बनाकर अपना उल्लू सीधा कर लेता हू, पर बात यहाँ उलटी है। मायाचार करनेसे दूसरोंका क्या बिगाड़ हुआ ? अधिकसे अधिक यह समझें कदाचित् कि दूसरेको न विकसित होने दें किसी भी कार्यमें, तो यह भी उसकी एक कल्पना है। उसके मायाचारके बर्तावके कारण कहीं दूसरेका अनर्थ नहीं हो जाता। यह मायाचार स्वयंको ही धोखा देने वाला और पतनकी ओर ले जाने वाला है। जब मेरे आत्माका सीधा सुगम एक स्वभाव है तो उस सुगमस्वभावके विरुद्ध कल्पनाएँ गढ़कर एक कितना बड़ा बोझ लादा जा रहा है ? इस मायाचारसे कोई सिद्धि नहीं है। दूसरे जीवोंका कैसा होनहार है, जैसी उनकी योग्यता है उसके अनुसार जिस विधिसे जो होना है होगा। उसमें हम न उनका कुछ बिगाड़ कर सकते और न उनको कुछ धोखा देने से अपनेमें कोई सुधार कर लेता है। मायाचार करना व्यर्थ है। यह मायाचार इस तरह ज्ञानबलसे छूट जाता है। बताओ क्या किसी कसरतसे छूटा ? कोई शस्त्र लाठी आदिके प्रयोगसे यह मायाचार छूटा क्या ? यह मायाचार सद्विचारोंसे छूटा। एक ज्ञानभावसे ही कषाय वैरी दूर किए गए।

तृष्णासंहारकविचार--लोभकषाय भी जीती जा सकती है तो क्या परपदार्थका समूह बढ़ानेसे जीती जा सकती है ? यह तो समझमें आ रहा होगा। कुछ किन्हीं धार्मिक प्रसंगोंमें आकर कि इतनी सम्पदा हो जाने पर, इतना परिग्रह होने पर फिर मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है। चाहे किसीने व्रतका संकल्प करके ऐसा परिमाण रक्खा हो और चाहे किसीने व्रतका संकल्प न करके अपनी ही जरूरत समझकर एक सामने नजरमें

ला लिया हो कि इतना हो जानेपर फिर तो मौज ही है। लेकिन बाजे बाजे तो व्रत परिमाण रखने वाले लोग भी इतना वैभव पानेपर फिर आगेकी तृष्णा बढ़ाने लगते हैं और प्राय:कर संकल्पी पुरुष भी इतना धन प्राप्त होनेपर जो उनको गुजारेमें पर्याप्त आवश्यक था आगेकी तृष्णा बढ़ा लेते हैं। यह तृष्णा तो बिल्कुल व्यर्थकी चीज है। जैसे ईंधनके संचयसे अग्नि शान्त नहीं होती ऐसे ही परिग्रहके संचयसे तृष्णा शान्त नहीं होती आदिक विचार बनायें तो तृष्णा शान्त हो जायगी।

अज्ञतापरिहारका अनुरोध—भैया! जो केवल सद्विचारोंसे कषाय-बैरी जीते जा सकते हैं। यदि इस सुगम उपायसे हम कषायोंको नहीं जीत सकते तो यह बेवकूफी है। घोर तपश्चरण नहीं कर सकते तो इसे अज्ञानता न कहेंगे, किन्तु सदविचार भी न रख सके तो यह तेरी अज्ञानता है। सद्विचार रख और अज्ञान भावको दूर कर।

> हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे,
> वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।
> श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं,
> सयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ॥२१३॥

कषायविजयके लिये अनुरोध—हे साधु पुरुष! जब तक तेरे इस निर्मल अगाध हृदयरूपी सरोवरमें कषायरूपी जलचरोंका, मगरमच्छोंका समूह बस रहा है तब तक गुणोंका पुञ्ज तेरेमें नि:शंकरूपसे प्रवेश नहीं कर सकता। जैसे किसी अगाध समुद्रमें बहुतसे जलचर मगरमच्छ आदिक रहते हों वहाँ गुणीजन, सज्जन पुरुष निशंकरूपसे प्रवेश नहीं कर सकते हैं इस कारण क्या करना? शान्त परिणामसे और इन्द्रियके दमनसे अनेक प्रकारके यमनियमोंसे इन कषायोंके जीतनेका उद्यम करना जिस परिणाम में समताभाव बसा हुआ है, रागद्वेषका त्याग रहता है उस परिणामके समय कषायोंका क्या काम है? जो पुरुष इन इन्द्रियोंका दमन करते हैं वे गुणलाभ करते हैं। ये हत्यारी इन्द्रियाँ, ये दु:खकारी इन्द्रियाँ अपने विषयमें प्रवर्त न हो सकें इसके जो विषय हैं जो कि थोथे हैं, असार हैं, उनमें यह न लग सके ऐसा ज्ञानका अंकुश इस पर बना रहे तो वहाँ गुणों का विकास होता है और इसी तरह किसी उचित नियमको आजीवन लिया जाये और उसे निभाया जाय तो उस यमनियमके प्रसादसे भी ये कषाय उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार बने तू इन कषायोंके हटाने का उद्यम कर।

क्रोधविजयकी आवश्यकता—कषायें चार प्रकारकी हैं— क्रोध, मान, माया, लोभ। अच्छी प्रकार निरख लो, क्रोध कषायसे किसीका भला होता

है क्या ? यहां बताया जा रहा है कि क्रोधकषायकी ज्वालामें पुरुषके रहे सहे गुण भी जल जाते हैं। कितना कितना ही किसीका उपकार करे। कोई किसीका कितना ही हितू हो, वे सब उपयोग और सब सेवायें जल जाती हैं। लोगोंकी दृष्टिमें फिर वह कुछ नहीं रहता है। यह तो है दूसरी बात। अपनी बात भी देखो, क्षमाका तो वहाँ प्रवेश ही नहीं है जहाँ क्रोध हो रहा हो। और क्रोधके समय सरलता, उदारता, नीति सेवा सब कुछ नष्ट हो जाते हैं। क्रोधमें किसने भला किया है ? घर घरमें देखो— जरा-जरासी बातपर क्रोध आने लगता है मगर उस क्रोधसे कोई काम सुधरता है क्या ? क्रोध करनेसे जिस पर क्रोध किया जा रहा है क्या वह सुधर गया ? जिस कामके लिए क्रोध किया जाता है क्या वह सुधर गया ? अथवा खुदका भी जीवन क्या सुधर गया ? सुधरा क्या ? कुछ भी नहीं। प्रायः काम बिगड़ जाता है। कभी-कभी तो क्रोधके वश होकर यही मनुष्य खुद अपने आप अपने आरामके साधनोंको बिगाड देता है। गुस्सा आये तो कहो अपने घरमें आग लगा दे, गुस्सा आये तो कहो हाथमें घी का डबला लिए हो उसे डाल दे, गुस्सा आये तो कहो रसोई घरमें चूल्हा खोद-फेंक दे। बताओ उसने किसका नुक्सान किया ? अपना ही तो नुक्सान किया। जब तक क्रोध कषाय जगती है हृदयमें तब तक गुणोंका निवास कैसे हो सकता है ?

मानविजयकी आवश्यकता—दूसरी कषाय है मान कषाय, घमंड। कोई पुरुष ऐसे चतुर होते हैं कि लोगोंकी समझमें नहीं आने देते हैं कि यह घमंडी है, नम्रताका व्यवहार करते हैं, ऐसी वाणी बोलते हैं जिससे दूसरोंको बड़ी मधुर लगे और कहो उसमें मान कषाय पुष्ट किया जा रहा हो। पर जो मान कषाय करता है उसको आत्माकी सुध भूल जाती है क्योंकि घमड किया जाता है। किसी परपदार्थको अपनाने की बुद्धि होने पर शरीरको निरखकर यह वासना बनी कि यह मैं हू, इस मेरेका नाम जगतमें होना चाहिए, मेरी प्रशसा होनी चाहिए। किसकी प्रशंसा ? क्या इस चैतन्यस्वभावकी ? नहीं नहीं उसको तो नजरमें ही नहीं लिया कि यह मैं हू। अगर उस शुद्ध चैतन्यभावको दृष्टिमें लेता कि यह मैं हू तो वहां घमड ही न उत्पन्न हो सकता था। इस शरीरको माना कि यह मैं हू तब इस मूर्तिक शरीरकी पोजीशन रखने के लिए मान कषाय जगती है और तब श्रद्धा, चारित्र, सयम, अन्तर्ज्ञान, भेदविज्ञान—ये सब भली-भली बातें कैसे हो सकती हैं ?

मायाविजयकी आवश्यकता—मायाचारकी कषाय भी देखो, उसे तो एकदम शल्य ही बता दिया है। क्रोध कषाय, मान कषाय तथा लोभ

कषाय ये शल्यरूप नहीं हैं किन्तु माया कषायको एकदम शल्यरूप बता दिया है। मायाचारकी स्थिति वालेको रात दिन शल्य रहती है क्यों कि पहिले यहाँकी वहाँ और वहाँकी यहाँ अनेकवार्तालाप कर डालें ना तो चित्त में यही रहता है कि कहीं यह बात खुल न जाय और इस बातके ही कारण उसे रात दिन शल्य रहती है। जैसे शल्य सट्टा लगाने वालों को रहा करती होगी, बिना रकमके मुँहकी बोली वाणीसे ही व्यापार करनेमें जैसी शल्य रहती होगी उससे भी विकट शल्य मायाचारमें हुआ करती है और फिर इस मायाचारसे सिद्धि क्या होगी? कौनसा लाभ लूट लिया जायेगा। आखिर यह जीव अपने स्वरूपरूप ही तो है, समस्त परद्रव्योंसे भिन्न ही तो है, इसमें क्या आ जायेगा? कौन सा इसमें विकास हो जायेगा? बल्कि मायाचारसे अपना निधान खोया ही है सब कुछ। शान्ति खोयी, ज्ञान खोया, बल खोया, कायरता जगी, धीरता, उदारता और तपश्चरण आदिककी पात्रता ये सब खतम कर डालीं।

मायावशतामें पतन—एक कथानक है कि एक मुनिराज ४ महीनेका उपवास ठानकर चातुर्मास करके बिहार कर गए। चातुर्मासका जो अन्तिम दिन था उस दिन विहार कर गए और उसके दूसरे दिन एक साधु वहाँसे निकला, लोगोंने उसकी बड़ी प्रशंसाकी। धन्य है चार महीनेका महाराजने उपवास किया। ऐसी बात सुनकर उसे खुशी हुई, सोचा अच्छी मुफ्तमें प्रशंसा मिल रही है। बस वह मौनपूर्वक रह गया। उसमें उसके ऐसा मायाचारका दोष लगा कि वह मरकर खोटी गतिमें गया। तो मायाचार से कौनसी सिद्धि मिल जाती है? जरा-जरासी बात छिपाना। जरा-जरा से विषयसाधनों पर बडे-बडे प्रोग्राम होना, इस मायाचारसे कौनसी सिद्धि मिल जायगी? अरे जो मिला हुआ है वह ही साराका सारा छूट जायगा। अपनी तो कुछ सुध कर, सरलताका आदर कर।

लोभविजयकी आवश्यकता—चौथी कषाय है लोभ। लोभ पापका बाप बखाना— यह बात बहुत प्रसिद्ध है। तृष्णामें अपने आपकी सुधबुध सब भूल जाती है। परपदार्थोंके विषयमें जो लोभ भाव जगता है उस लोभसे इस आत्मामें कौनसी सिद्धि हो जायगी, कौनसा सुधार बन जायगा सो तो निरखिये। एक आत्माको कलंकित किया। सब कुछ छोड़कर तो जाना ही है, देह तक भी साथ न जायगा। जैसा परिणाम किया उसके अनुसार परभवकी रचना चलेगी। लोभमें कौनसी सिद्धि हुई, और फिर बाह्य सम्पदाका समागम होना पुण्यके आधीन है। कोई किसी परवस्तुको तृष्णावश उसे चिपकाये रहे, आधीन ही रखे तो इससे कौनसी सिद्धि है? पुण्यरस घटेगा, पापरस बढ़ेगा। फिर रखी रखायी सम्पदा भी पास न

रह सकेगी। और जो पुरुष तृष्णा नहीं करता, उदारता रखता है ऐसे पुरुषका कुछ द्रव्य दूसरेके उपयोगमें खर्च हो जाने पर भी लौकिक दृष्टिसे भी उसे क्या घाटा रहता है? उदय है पुण्यका तो वह कहाँ जायेगा, फिर उससे भी अधिक समागम उसे प्राप्त हो सकेगा। कुछ भी हो, इन बातोंके विवरणमें नहीं जाना है किन्तु अपने अन्तरङ्गमें यह देखो कि तृष्णा करके यह मैं अपना कौन सा लाभ ले लेता हू? ये कषाय वैरी, ये कषायोंके जलचर जब तक इस अगाध उपयोग समुद्रमें पड़े रहते हैं तब तक गुण निःशकरूपसे आत्मामें उपयोगमें प्रवेश नहीं कर सकते। हे कल्याणार्थी पुरुष! तू तत्त्वज्ञानके बलसे ज्ञानभावनाके द्वारा इन कषायों को जीत। इसही में सुख शान्तिका समागम हो सकेगा।

हित्वा हेतुफले किलात्र सुधियस्तां सिद्धिमामुत्रिकीं,
वाञ्छन्त स्वयमेव साधनतया शंसन्ति शान्त मन'।
तेपामाखुविडालिकेति तदिद धिक् धिक् कलेः प्राभव,
येनैनेऽपि फलद्वयप्रलयनाद् दूरं विपर्यासिता' २१४॥

उपादानशुद्धिपर विचार—ये चतुर लोग, ये संसारीजन शान्तिके फल को और शान्तिके कारणभूत निष्परिग्रहताको छोड़कर परलोककी सिद्धि चाहते हैं और अपने आप ही अपने मनसे विकल्पोंसे या कुछ साधनों को बनाकर स्वय अपनी प्रशसा करते हैं, वे कषायके वशीभूत हैं, गुणोंके विकासके मार्गमें लगना विरल और दुर्लभ बात है। धर्ममार्ग, धर्मभेष, धर्मपदको धारण करके भी ये सब अवगुणोंकी बातें रहना यह प्राय होता रहता है। जिस पुरुषका जैसा उपादान है वह उस उपादानके अनुकूल ही तो परिणमेगा। भेषमें चाहे कैसा ही कुछ बना दो, पर बात तो वह बनेगी जो इसके उपादानमें बैठी है।

उपादानानुसारिणी प्रवृत्ति—गड़रियाकी लड़की बादशाहको भी ब्याह दी जाय, रानी बन जाय और वह अपने भवनमें चित्रोंको एक ओर से देखने लगे तो मुकुट पहिना देनेसे या रानीके कपड़े पहिना देने से भीतर के उपादानमे तो फर्क न आ जायेगा। उसकी दृष्टि वीर बहादुर, योगी, सत पुरुषोंपर न टिक कर बकरी की फोटो लगी होगी तो वहां टिकने लगेगी और टिक-टिक बोलकर उस अचेतन फोटोसे भी व्यवहार करने लगेगी। अब उपादानको कैसे टाला जाय? किसी तोतले बच्चेको बहुत अच्छे कोट पैन्ट बूट टोप आदिसे खूब सजा दिया जाय तो इतना शृङ्गार करने के बावजूद भी क्या उसके तोतलेपनका अवगुण मिट जायेगा? भेष बनानेसे क्या होता है? जो उपादान है, जो प्रकृति है, जो कुदृष्टि है वह अपना काम करेगी। कोई अज्ञानी पुरुष किसी भावुकतामें आकर या

किसी लालचमें आकर किस ही प्रकार मुनि बन जाय, निर्ग्रन्थ दीक्षा ले ले तो भी क्या वह वास्तविक निर्ग्रन्थता का पालन कर सकेगा ? क्या मनमें वह शान्तिका अनुभव कर सकेगा ? वह तो अपने मन ही मन अपनी प्रशंसा करता हुआ कुछ प्रवृत्ति करेगा।

बाह्यपरिस्थिति व उपादान—जैसे बालकको राजा भैया ! राजा भैया कह कहकर कितना ही काम करा लो, ऐसे ही इन अज्ञानी मोही साधुजनों को बढ़ावा दे देकर पूजा प्रतिष्ठा कर करके, समितियोंका खूब पालन करा लो, इन सब प्रवृत्तियोंके करनेके बावजूद भी क्या भीतरमें अन्तर पड़ जायेगा ? वहाँ तो जिस प्रकारका उपादान होगा उस तरहकी वृत्ति जगेगी। तब हे साधु पुरुष ! करनेका काम ज्ञानभावना है। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूं— इस प्रकारके स्वरूपकी दृढ़ भावना बने तो वह सब अन्तर बन जायेगा। जिसके प्रसादसे ससारके संकट दूर हुआ करते हैं। जैसे छाछ चाहने वाले को कोई दूध देता रहे तो वह कितना शान्तमिजाज बनकर व्यवहार करेगा ? ऐसे ही एक साधारण आरामकी अभिलाषासे किसीने साधुव्रत लिया हो और उसे उस मनचाही बातसे भी कई गुणा अधिक प्रतिष्ठा पूजा मिले तो वह तो शान्तिका ही व्यवहार करेगा मगर उस शान्ति-व्यवहारके मायाचारमें अशान्तिकी अग्नि दबी हुई है। बड़े शान्तचित्त हैं, ठीक तरहसे व्रत संयम पाल रहे हैं किन्तु अज्ञानका उदय है वह कषायके वश हुआ पड़ा हुआ है। शुद्ध सहज चित्स्वभावका उन्हें अनुभव नहीं होता है।

अन्तर्मल—भैया! अन्तर्मलकी कितनी गहरी बात है ? कहाँ क्या मल पड़ा हुआ है और जिसकी गन्दगीका इतना असर होता कि उसके प्रति लोकमें भी असर हो जायगा और इसे वह स्वयं भी मालूम नहीं कर पाता। जैसे अटपट अधिक खाने वाले पुरुषके पेटमें किसी जगह नाभिके केन्द्र पर कुछ ऐसा दृढ़ मल जम जाय इतनेसे मलके असरका क्या पता, लेकिन उसका विष, उसका प्रभाव उसके समस्त शरीर पर पड़ जाता है, जुखाम हो, बुखार हो, अनेक रोग हों ऐसे ही पूजा प्रतिष्ठा आदिक वातावरणसे तृप्त होकर अपनी शान्त मुद्राका व्यवहार करने वाले पुरुषके आत्मामें अन्तः कहाँ क्या मल पडा रहता है जिसका प्रभाव, जिसका विष इसके इहलोक और परलोकमें बुरा पड़ जाता है।

धर्मकी ओटमें कषायपोषणका अनौचित्य—हे साधु पुरुष ! ऊपरी ही बातें निरखकर तृप्त मत हो। अपने अन्तरङ्गके आशय और उद्देश्य खोटे मत करो। अपना क्या उद्देश्य बनाया है ? हमारी दृष्टि कहाँ जम रही है। तुम आखिर एक खास बात क्या चाहते हो, उसका निर्णय तो करो।

यदि इसके अतिरिक्त निजतत्त्वको छोड़कर अन्य तत्त्व आये तो तू समझ अभी बहुत पिछड़ा हुआ जीवन है। यहाँ तो यह बड़ी विरुद्ध बात हो रही है। जैसे चूहा और बिलावमें परस्पर वैर है ऐसे ही क्रोधादिक कषायों में और उपशान्ति आदिक गुणोंमें परस्पर वैर विरोध है। जहां कषाय जग रही है चाहे वह व्यक्त हो अथवा न हो, दूसरेको अव्यक्त हो पर भीतर कषाय पड़ी हुई है तो उसके लिए तो कोई गुण उत्पन्न नहीं हो सकता। धिक्कार हो ऐसे दुराशयको और ऐसे दुराशय वाले जीवोंसे वर्त रहे इस कलिकालको धिक्कार हो। एक धार्मिक भेष धारण करके एक साधु निर्ग्रन्थ भेष धारण करके फिर आत्मकल्याणके सिवाय अन्य कुछ इन्द्रिय-विषयके साधनोंकी चाह बनाये तो वह गृहस्थसे भी खोटा है।

ज्ञानभावनाका कर्तव्य--इस ग्रन्थमें साधुजनोंको सम्बोधा गया है। देख तू कषायनके वश मत हो। तू एक शुद्धज्ञानप्रकाशके अनुभवके सिवायके अन्य कुछ मूल लक्ष्य मत बना। तू ज्ञानस्वभावी है, सुबुद्धि है, फिर भी कषायोंके प्रभावसे तू अत्यन्त ठगाया गया है और इस लोक तथा पर लोक के फलका तू स्वयं विनाश कर रहा है। अपना काम सभाल। सभी लोग प्राय अज्ञानी हैं, मोही हैं, खुदके बोझसे लदे हुए हैं, उनमें तू क्या चाहता है? अपने विभावमलको दूर कर और अपनेमें अपने सहज शुद्ध आनन्द का अनुभव कर, ऐसी अपनी दृष्टिका ही झुकाव बना, ऐसी ज्ञान-भावना बना।

उद्युक्तस्त्व तपस्यस्यधिकमभिभवं त्वामगच्छन् कषाया,
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किन्तु दुर्लक्ष्यमन्यैः।
निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिवम नाग् निम्नदेशेष्ववश्यं,
मात्सर्यं ते स्वतुल्यैर्भवति परवशाद्दुर्जयं तज्जहीहि ॥२१५॥

गूढप्रदेशवसका भावके भी त्यागनेका उपदेश---हे साधो! तू तपमें उद्यमी हुआ है यह बात तेरे योग्य है और इस तपश्चरणके उद्यमसे तेरे द्वारा ये कषाय अपमानको प्राप्त हुए हैं यह भी योग्य बात है अर्थात् क्रोधादिक कषायें तेरेमें मंद हो गयी हैं यह भी ठीक है, और तेरा ज्ञान बड़ा अगाध है, गम्भीर है। जैसे समुद्रमें जल अगाध होता है इसी प्रकार तेरा ज्ञान भी अगाध है। यह भी बड़ी शोभाकी बात है। सभी बातें तुझमें भली-भली हैं परन्तु तुमको एक शिक्षाकी बात है उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

हे साधु! जो बात मैं कहूगा वह दूसरेके द्वारा अगम्य है और मैं जिस दोषकी बातको कहूगा उसको कोई बिरले ही संत त्याग पाते हैं। तेरा तपश्चरण उत्तम है, मंदकषायें भी प्रशंसाके योग्य हैं, तेरा ज्ञान भी बड़ा अगाध है किन्तु जैसे जलके प्रवाहमें, नीचे स्थानमें गहराईका जल निःसंदेह गूढ़ होता है ऐसे ही तेरे हृदयमें एक दोष ऐसा गूढ छुपा हुआ

है जो दूसरे लोगोंके द्वारा जाननेमें नहीं आ रहा है। उस दोषकी बात कहता हू कि तू उसकी बात और मिटा दे फिर तो तू सर्व प्रकार निर्मल है। वह कौनसा दोष है ? अपनी बराबरीके लोगोंमें मात्सर्यका भाव होना।

आचार्य देवकी सूक्ष्म गवेषणा--आचार्यदेव ने कैसा छान छानकर आत्माको सभाला है ? कोई साधु तपश्चरणमें भी ऊँचा है, ज्ञानमें भी ऊँचा है, कषाय भी मद हैं फिर भी एक ऐब ऐसा रह जाता है कि कुछ न कुछ बराबरीके साधुओंके प्रति एक अदेखसकाका भाव हो जाता है। वह दोष लोगोंको भी विदित नहीं हो पाता। कितने ही साधु तो प्रकट मात्सर्य रखते हैं, उनकी कहानी नहीं कह रहे हैं। वे तो तपश्चरणमें सावधान नहीं, ज्ञानमे गम्भीर नहीं, कषाय भी मद नहीं और उनका मात्सर्य भाव एकदम व्यक्त है। दूसरोंकी निन्दा करना, दूसरे साधुसे ईर्ष्या रखना, उनसे मिल न सकना, कदाचित् एक ही नगरमे आ जायें तब भी मिलाप न करने की भावना हो यह तो प्रकट दोष है। उनकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु जो सब जनताके परीक्षणमें भी उच्च तपस्वी हुए हैं और ज्ञान भी गम्भीर, कषाय भी मंद, फिर भी चित्तमें अपनी बराबरीके साधुओंके प्रति एक अदेखसका का भाव हो जाना, यह ऐब रह जाता है। हे साधु ! तू इस दोषको दूर कर ! यह अवगुण दुर्जेय है। बड़ी कठिनाईसे जीता जा सकता है। इसके जीत लेने पर फिर तू निर्मल ही है।

अंतरङ्ग त्यागकी आवश्यकता--सत्य तो यह है कि जिसने इस माया मयी दुनियाके लिए अपना अस्तित्व माना है उसे सत्यसे यथार्थ प्रीति होना कठिन है और जिसका यह निर्णय है कि मेरा जीवन, मेरा अस्तित्व, मेरी बात दुनियाके लिए नहीं है मेरी बात मेरी लिए ही है, मेरा काम मेरे ही लिए है, मेरा भवितव्य मेरे ही लिए है। यों केवल निजके स्वभावसे अनुराग जगे तो ये सब गुणविकास, अवगुणपरिहार सरल हो जाते हैं। हे साधु ! तू तपस्वी है, मदकषायी है, गम्भीर चित्त वाला है, ज्ञान भी विशाल है, सब कुछ है तो एक तू अपने आपमें जो विदित हो सकता है देख ले। यदि कुछ भी आदेखसका का भाव है अथवा अपनी बराबरी वाले या अपने से भी कम गुण वाले उनके उन्नपन, उनकी प्रशसा, उनकी प्रतिष्ठा तू रुचिसे हृदयसे यदि नहीं देख सकता तो तू इस अवगुणके भार से मलिन है। तू इस अवगुणका भी परिहार कर अथवा अपनी बराबरी वालोंसे अथवा कम ज्यादा गुण वालोंसे मात्सर्यका भाव मत कर। यह प्रच्छन्न बड़ा बुरा दोष है। इसके रहते हुए तू अपने आत्माकी उन्नति नहीं कर सकेगा।

चित्तस्थमप्यनवबुध्य हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्ध्या।
घोरामवापसहितेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानि ॥२१६॥

क्रोधसे हानि—इस प्रकरणमें इन कषायोंसे क्या हानि होती है? इसका कुछ संक्षिप्त विवरण किया जायेगा। उनमें सबसे पहिले क्रोधकी बात कह रहे हैं और उसको एक ऐसे दृष्टान्तसे शुरू कर रहे हैं जिससे यह भी प्रकट होता है कि अपनी बुद्धिके अनुसार किसी अच्छी बातके लिए क्रोध किया गया है, फिर भी यथार्थ सावधान न होने से कुछ से कुछ समझा जाकर क्रोधसे क्या कर लिया जाता है ऐसे क्रोधसे भी हानि है, तब अति अविवेकी जनोंके क्रोधसे क्यों न हानि होगी?

क्रोधसे हानि पर एक दृष्टान्त—एक ऐसी बात प्रसिद्ध है कि किसी ने इस कामविकार पर इस कामदेव पर. क्रोध किया, अच्छी बात है। कोई यदि इस कामदेव पर क्रोध करके इसे छेद डाले, जला डाले, मार डाले तो अच्छी बात है क्योंकि इस कामने जगतके सभी जीवोंको आक्रान्त कर दिया है, सो किसी पुरुषने कोई बड़े ऋषिसतोंने यह तो न जान पाया कि यह कामदेव चित्तमें ही रहा करता है, किन्तु बाहरी किसी पदार्थमें कामदेवकी आस्था करके यह काम है उसे जला डाला। जल तो गया इसकी जानमें, पर काम तो नहीं मरा, वह तो चित्तमें ही छुपा हुआ था और इस प्रसगमें यह हुआ कि काम छुपे-छुपे भीतर ही भीतर काम कर रहा था सो ऐसा उमड़ा कि उस पुरुषको पदभ्रष्ट होना पड़ा और योग संन्यास त्याग सबको छोड़कर विवाह रचना पड़ा और पर्वतोंमें रहना पड़ा। लोग जानते होंगे, इस क्रोधसे किसके कार्यकी हानि नहीं होती है? कामके रोग से वह रोगी बना और रोगी बनकर फिर बड़ी विडम्बना हो गयी। भले ही कुछ कला थी, कुछ सिद्धि थी, कुछ प्रताप था सो अपने ही बलसे अथवा मरकर व्यंतर होकर अपनी मान्यता मनाने के लिए कुछ रोग फैलाकर फिर कुछ स्वप्न देकर अपनी मान्यता करा ली हो, ठीक है पर जो अशान्तिका काम करेगा उसे फल अशान्तिका ही मिलेगा। क्रोधके उदय से किसके कार्यकी हानि नहीं होती है। क्रोधसे लाभ कुछ नहीं मिल पाता बल्कि हानि हो जाती है।

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं,
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुञ्चेत्।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय,
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति ॥२१७॥

मानकषायसे हानि—मान कषाय भी जीवोंकी महती हानि करती है। देखो बहुत प्राचीन घटना है-- ऋषभदेवके पुत्र बाहुबलिके साथ जब भरत चक्रवर्तीका युद्ध हुआ, दोनों यद्यपि थे भिन्न-भिन्न किन्तु चक्रवर्तित्व की प्रेरणामें यह लड़ाई छिड गयी थी। अनेक युद्धोंमें हारकर भरतने बाहुबलिपर चक्र चलाया, वह चक्र बाहुबलिके दाहिने हाथ पर आकर रुक गया। इतना महान शस्त्र चक्र जिसके हाथ पर आ जाय उसको समझ लीजिए सब समृद्धि मिल चुकी। एक तरहसे देखा जाय तो बाहुबलि ही चक्रवर्ती सा बन गया, वही सब लोगोंकी दृष्टिमें एक प्रतापी नजर आने लगा। ऐसा बाहुबलि ऐसी बड़ी समृद्धियोंको राज्यको सबको त्यागकर दीक्षित हो गया। कितना बड़ा त्याग था बाहुबलिका? बड़े श्रमसे विजय चक्रवर्ती पर पा ली, लोकमें सबके द्वारा मान्य हो गया। इतनी बड़ी समृद्धि पानेके बादमें उस सब समृद्धिका त्याग करदे तो यह बाहुबलिका कितना बड़ा त्याग था और त्याग तो सब दिया, किन्तु साधु अवस्थामें एक मान रह गया। सो देखिये उस मानसे क्या हानि होती है?

बाहुबलिकी शल्य—किसी ग्रन्थमें लिखा है कि बाहुबलि उस समय इस शोकमें थे, विचारमें थे कि भरतकी भूमिपर मैं खड़ा हूं। मुझे तो उसकी भूमि पर खड़ा ही न होना चाहिए। अब भरतक्षेत्रके ६ खण्डसे बाहर कहाँ जाय? यह मान बाहुबलिको सता रहा था और इस कारण तपस्या करने पर भी जहाँ एक वर्ष तक आहार नहीं किया, उन्होंने एक ही जगह एक आसनसे खडे रहकर एक वर्ष तक घोर तपस्या की, वर्षाकाल में वेल शरीरमें लिपट गयीं, सर्प फिरने लगे, इतनी कठिन तपस्या करने पर भी केवलज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ, प्रभुता नहीं जगी। उसका कारण वही मान कषाय था। तो यह मान कषाय महान अनर्थको उत्पन्न करती है।

बाहुबलिके शल्यका विलय—भरतचक्रवर्तीको जब ऋषभदेवके समवशरणमें विदित हुआ कि बाहुबलिको शल्य है सो वहा आकर बाहुबलिके चरणोंमें प्रणाम करके भरतने कहा—हे योगिराज! यह भूमि किसकी हुई? मुझ जैसे अनन्त चक्रवर्ती हो गए इस क्षेत्रमें और जहा स्मारकमें नाम लिखा गया है, कई योजन लम्बे चौडे विशाल पर्वतपर किसी भी चक्रवर्तीका नाम लिखने को खाली जगह न मिलने से दूसरे चक्रवर्तीका नाम मिटाकर उस जगह अपना नाम लिखा करते हैं। महाराज यह भूमि आज तक किसकी होकर रही क्या? सब धोखा है। बाहुबलिकी शल्य मिटी, निर्विकल्पसमाधि हुई, केवलज्ञान जगा, लेकिन जब तक मान कषाय रही तब तक इतना विशिष्टतपश्चरण करनेके बाद भी सिद्धि न हो सकी।

मानकी अनर्थकारिता—यह मान कषाय अनर्थ करती है। और भी बाहुवलिकी घटना तो पुराणोंकी बात है, अपने ही जीवनमें देखलो, मान करने से क्या फल मिलता है? किसी घमंडीको अपने से अधिक घमंड करने वाला मिल जाय तब उसे पता पड़ता है। यह मान कषाय महान् अनर्थ करने वाली है। घर-घरमें, समाजके लोगोंमें, देशके लोगोंमें सब जगह अपनी-अपनी पद्धतिसे इस मानका विसम्वाद चलता रहता है। छोटे छोटे बच्चों तकमें भी साल-सालके बालकोंमें भी मान कषायका नाच चलता रहता है। सबको विदित है। वह थोड़ा भी मान कषाय महान् अनर्थका करने वाला है।

सत्यं वाचि मतौश्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमो,
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिर्निर्वृते।
तेन प्रागजनीह तेपि निरहङ्कारा' श्रुतेर्गोचरा—
श्चित्रं सम्प्रति लेशितोपि न गुणास्तेषा तथाप्युद्धताः॥२१८॥

गुणियोंकी निरहङ्कारता व निर्गुणोंके अहकार पर आश्चर्य—देखिये जिसमें बडे गुण होते हैं वे तक तो निरभिमानी देखे जाते हैं, पर जिनमें गुण भी कुछ नहीं है फिर भी लम्पाकी तरह ऐंठे चले जा रहे हैं, इस पर तो बड़ा अचरज होना चाहिए। एक घासमें लम्पा घास हुआ करती है जो होती तो कोमल है और काटेकी तरह पैरमें छिद जाया करती है। उस सूखे लम्पापर थोड़ा पानी गिर जाय तो फिर उसकी लीला देख लो, वह चारों तरफ इस तरहसे ऐंटती है कि वह देखते ही बनती है। ऐसे ही जिसमे गुण नहीं हैं वह इस तरह अभिमानमें रत रहा करता है, यह आश्चर्यकी बात है।

निरहङ्कारीके गुणोंका वर्णन—गुणी पुरुष तो बडे गुणोंसे भरपूर होकर भी निरहकार रहते हैं, जिनके वचनोंमें सत्यता है, कोई स्वार्थसाधना नहीं है। ऐसे भी सत पुरुष होते हैं जिनके वचन सदा सत्य प्रामाणिक होते हैं। यह बड़ा गुण है कि नहीं? हर एक कोई ऐसा कर सके तो बतावो, पर हाँ विरले गुणी पुरुष ऐसे होते हैं जिनके वचनोंमें सत्यता है और जिनकी बुद्धिमें बड़ा ज्ञान भरा हुआ है शास्त्रका, युक्तियोंका, नीतियोंका, अनुभवका, बड़ासे बड़ा ज्ञान जिनकी बुद्धिमें पड़ा हुआ है ऐसे भी बडे पुरुष होते हैं, जिनके हृदयमें दया बसी हुई है। जिनके हृदयमें रंच भी कठोर वासना नहीं रही, भुजावोंमें शूरवीरता बसी हुई है और सम्पदा भी अधिक पायी है, दीन दुखियोंके लिए पूर्णदान भी जिनके होता रहता है, और शुद्धज्ञान, शुद्धआचरण एक ऐसा है कि निर्वाणके मार्गमें भी जिनका गमन चल रहा है, धर्मी हैं। बतावो किसी पुरुषमें ये सारे

गुण मिल जाय तो वह कितना महान् है। इतना महान् होकर भी वह पुरुष तो रहता है निरहंकार, अभिमान रहित, सरल, मृदुपरिणामी और आजकल इस कलिकालके समय लेश भी गुण जिनके नहीं हैं ऐसे पुरुष भी उद्धत देखे आ रहे हैं। यह बड़े खेदकी बात है।

गुणहीनव्यक्तिके अहङ्कारका प्रसार—अथवा यों समझ लीजिए कि जो मदसे उद्धत रहा करता है वह पुरुष गुणशून्य होता है। जिसका जैसा उपादान है उस वह योग्यतासे अपना वैसा ही परिणमन बनाये रहता है। गुणी पुरुष अहंकारमें नहीं आया करते, निर्गुण पुरुष ही अहंकारमें बसा करते हैं और ऐसा अहंकार जिससे दुनियाके जीवों पर छाये रहनेकी वाञ्छा बनी रहती है यह मान हानिका, अनर्थका उत्पन्न करने वाला है।

हठ और हठका फल—एक बार एक सास बहूमें लड़ाई हुई। उस बहूसे पतिको बडा अनुराग था। बड़ी हठ हो गयी उस बहूके मनमें कि मैं बहूरानी तब कहाऊँ जब इस सासके सिरके बाल घुटवा लूँ और मुँह काला करा लूँ। इस चिन्तामें एक दिन उसे ऐसा उपाय सूझा कि जैसा कि वह करके दिखायेगी। बडे कठिन पेट और सिर दर्दका बहाना करके पड़ गई। उसके पतिने बहुतसे वैद्य हकीम बुलवाकर दवा करवाई, पर उसका दर्द ठीक न हुआ। एक दिन पूछा अरी रानी तेरा दर्द किसी तरहसे ठीक होगा कि नहीं? तो वह बहू बोली कि एक देवता ने स्वप्न दिया है कि तुझे जो अधिक प्यार करता हो उसकी माँ शिरके बाल घुटा कर मुँह काला करके सवेरा होते होते दिख जाय तो बच सकेगी नहीं तो मर जायेगी। पति सब ताड़ गया। झट श्वसुरजीको पत्र लिखा कि सासू जी तुम्हारी लड़की बहुत बीमार है। बचनेकी आशा नहीं है, उसके बचनेका सिर्फ एक उपाय किसी देवने बताया है कि इसकी मा अपने सिरके बाल घुटाकर मुँह काला करके सवेरा होते ही दिख जाय तो लड़की बचेगी नहीं तो मर जायेगी। उस बहूकी मा ने झट अपने शिरके बाल घुटाये, मुँह काला किया और सवेरा होते ही वहाँ पहुची। उस समय वह बहू चक्कीमें आटा पीस रही थी। उसे देखकर बहू बोली—देखो बीरबानीके चालें, शिर मुडे और मुँह काले, तो पति बोला—देखी मर्दोंकी फेरी, अम्मा तेरी कि मेरी। मानमें रखा क्या है? इस मानसे हानि ही है, अपमान ही है। मानको तजना ही श्रेयस्कर है।

> वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यै—
> रुदरमुपनिविष्टा सा च ते चापरस्य।
> तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं,
> वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु ॥२१९॥

घमण्डका अनवकाश—जैसे लोग कह देते हैं कि घमण्ड किस बातका करते हो, यहाँ तो एकसे एक बड़े पड़े हुए हैं, ऐसे ही यहाँ निरखिये यह समस्त दुनिया पृथ्वीपर अवस्थित है और यह पृथ्वी भी सारी की सारी किन्हीं अन्योंने धारण की है, किसने धारणकी है ? तीन जो घनवात वलय घनोदधिवातवलय और तनुवातवलय हैं, इन्हने समस्त पृथ्वी को धारण कर लिया है और इस पृथ्वीको और इन सब वातवलयोंको किसीने अपने पेटमें रख लिया है । किसने ? आकाशने । ये पृथ्वी और ये वातवलय सब आकाशके पेटमें पड़े हुए हैं । जैसे हम आपका शरीर इतना बड़ा है, हम आपके पेटमें कितनी सी जगह है और उसमें कुछ भोजन आदिक पड़ा हुआ है तो इतने बड़े हमारे पेटमें थोड़ी सी जगहमें समाया हुआ रहता है ऐसे ही महान् आकाशके ठीक बीचोंबीच वातवलय और पृथ्वी सब समाई हुई हैं और यह सब हो सब पृथ्वी भी, वातवलय भी और आकाश भी ये सबके सब किन्हींके ज्ञानके एक कोने में पड़े हुए हैं अर्थात् सर्वज्ञदेव के केवलज्ञानीके एक कोनेमें समस्त सत् पड़े हुए हैं । अब बताओ गर्व करनेकी कहाँ गुञ्जाइश है ?

घमडीकी अनुत्कृष्टताकी जाहिरात—गर्व तब किया जाय जब कोई अपने से अधिक न हो । घमण्ड तो छोटोंमें ही सुहाता है । अपने से बड़ोंके आगे कोई घमण्ड बगराये तो वह क्या शोभा देता है ? लोग घमण्डके साथ बगराना शब्द लगा देते हैं । तुम बड़ा घमंड बगरा रहे हो । बगराना मायने है बखेरना । जो घमंड करता है उसका वह सब भाव सब लोगोंके सामने बिखरा हुआ दीखता है । सब समझ जाते हैं । घमंडी पुरुष अपने आपका घमंड चाहे न समझ पाये कि मैं इस समय घमंडमें हूँ पर लोग तो सब जान जाते हैं, इसीलिए घमण्ड बगराना शब्द बोलते हैं । अपने से कोई अधिक न हो वहाँ घमण्ड किया जाता है, पर देखो तो सब अपने से अधिक हैं । सर्वज्ञदेव केवलज्ञानी ये तो पूर्ण अधिक ही हैं अपने से, अब कहाँ घमंड किया जाय ?

घमडके अवस्थानकी स्थिति—घमंड करना अज्ञानीजनोंका ही तो काम है, बड़े पुरुष कार्यमें ही रत रहा करते हैं गर्वमें नहीं । उनका चित्त अपने विचारे हुए शुभ कार्योंमें रहता है । शुभकार्योंमें ही उनका समय व्यतीत होता है । उससे ही उन्हें फुरसत नहीं होती है । घमण्ड किस बात पर किया जाय ? फुरसत वाले आदमी पर घमंड सवार होता है और घमंड ही नहीं, चारों कषायें विशेषकर फुरसत वाले आदमी पर सवार हुआ करती हैं । जो उद्योगहीन हैं, जिन्हें कोई काम सामने नहीं पड़ा है, ठाली बैठे हैं तो यह चित्त भी कहाँ जायेगा । ज्ञान तो जगा नहीं है जो

यह चित्त शुद्ध ज्ञानतत्त्वमें लग जाय। अनापसनाप बातें ही सोचते हैं। ज्ञानीपुरुष विवेकीजन गर्व नहीं किया करते। इस गर्वसे कोई सिद्धि नहीं है। दूसरी बात यह है कि सब जीव जब अपने ही समान हैं चित्प्रकाश चिद्विलासमय हैं वही बात मेरी है। वही बात सबकी है, अन्तरमें देखो, मूलमें नजर करो सबका एक स्वरूप है। जब सब एक समान है तो समान वालोंमें गर्व कैसा? गर्व हुआ करता है अपनेसे कम धन, गुण आदिक वालोंमें। इस गर्व करने वाले की दृष्टिमें जब तक दूसरे लोग लघु न जचें किसी भी दृष्टिसे तब तक उनमें घमंड नहीं किया जा सकता। सो किस बातपर घमंड करते हो? एकसे एक अधिक पडे हुए हैं अथवा सब ही जीव तेरे समान हैं गर्व करनेको फिर अवकाश कहाँ है?

यशोमारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं,
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघरासीद्यमसुतः।
सकृष्णः कृष्णोऽभूत् कपटबहुवेषेण नितरा—
मपि छद्मात्यं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महत ॥२२०॥

मायाचारसे यशकी मलिनता—मायाचार कषाय छल कपट करना, यह एक ऐसा दोष है जैसे विशाल दूधमें विषकी एक कणिका पड़ जाय तो सारा दूध विषैला हो जाता है इस ही प्रकार बहुतसे भी गुण हों, किन्तु थोड़ा भी कपट हो तो वह कपट उन सब गुणोंको विषैला कर देता है, कलंकित कर देता है। देखो— रावणका मत्री मारीच, उसने कपट करके एक मायामृगका रूप रखा रामको ठगनेके लिए सो उसका यश मलिन हो गया, आज तक भी वह लोकोक्ति चली आ रही है। घटना कुछ भी हुई हो पर एक कल्पनामें लाइये और लोकमें इस बातकी प्रसिद्धि हो गयी है कि मारीचने कपटसे मृगका रूप रखा, सीताने रामसे कहा कि इस मृगको मेरे पास लावो तो राम लेने गये, मृग चलता गया, राम बिछुड़ गए, सीता बिछुड़ गई, रावणने सीताको हर लिया। ऐसी एक लोक प्रसिद्धि बात है। और यह भी कहा गया है कि खरदूषणके साथ युद्ध करनेके लिए लक्ष्मण गए, और रामने यह कह दिया था कि तुम मुझे पुकारना तो मैं आ जाऊँगा, तब रावणने विद्याबलसे यह सब घटना समझकर हा राम ऐसा शब्द गर्जित किया। राम पहुंच गए, और रावण सीताको हर ले गया। कुछ भी हो, यश तो मलिन हुआ ना। मारीचने मायामृग बनकर अपना यश मलिन किया।

मायाचारसे विडम्बना—यहाँ मायाचारकी बात दिखा रहे हैं। यह मायाचार सर्वगुणोंको मलिन कर देता है। भाईको भाईका कपट मालूम हो जाता है तो उस जरासी कपटकी बातपर तेज अनबन हो जाती है।

दो भाई थे— एक बड़ा और एक छोटा। मान लो बड़ा भाई बाजारसे दो अमरूद लाया। सामनेसे एक उसका लड़का और एक उसके भाईका लड़का आ रहा था। यह प्राकृतिक बात है कि दो चीजोंमें बड़ी चीज तो दाहिने हाथमें और छोटी चीज बायें हाथमें ली जाती है, सब जानते हैं। तो उसके दाहिने हाथमें था बड़ा अमरूद और बायें हाथमें था छोटा अमरूद। बाईं ओर उसका लड़का था और दाहिनी ओर छोटे भाईका लड़का था तो वह हाथ पर हाथ रखकर दाहिने हाथ वाला बड़ा अमरूद अपने लड़केको दिया और बायें हाथसे दाहिने हाथ वाले छोटे भाईके लड़केको छोटा अमरूद दिया। यह दृश्य देख लिया उसके छोटे भाई ने। बस उसका चित्त उतर गया था। सो बड़े भाईसे बोला— मुझे न्यारा कर दो। मुझे कुछ जायदाद न चाहिए। एक झोंपड़ी दे दो और साधारणसी आजीविका का साधन दे दो। बड़े भाईने कहा— क्यों भाई क्या बात हो गई? तुम्हें हम तो अपने प्राणोंकी तरह सुरक्षित रखते हैं, तुम क्यों अलग हो रहे हो? अरे तुम सब जायदाद रख लो, न्यारा होनेकी क्या जरूरत? हमारा कुछ नहीं है। लो सब तुम्हारा है। देखो बड़ी बड़ी जायदादका मोह भी छोड़ दिया, मगर वह अल्पकपट जो ज्ञात हो गया उसके घावको औषधि नहीं बन सकती। अल्प भी मायाचार हो तो यह गुणोंको मलिन कर देता है।

मायाचारकी अविदितताकी असिद्धि—मायाचारी पुरुष भले ही यह समझता हो कि मेरे पापको कोई दूसरा नहीं जानता है मगर उसका यह ख्याल ही ख्याल है। उसके कार्योंको सब जानते हैं। कुछ नीतिके श्लोकों में बताया गया है कि जिनमें मायाचार है उनका मायाचार इन पुरुषोंसे अविदित नहीं रहता। नट, उपाध्याय, पाठक, गुरु, आदिक लोग बताये गए हैं, इनमें दूसरोंका कपट अविदिक नहीं रहता। लोग जान ही जाते हैं। तो सभी जगह अपनेसे बड़े लोग भी रहते हैं कपट उनको विदित हो जायगा और कुछ समय बाद सभीको विदित होगा। इस कपटसे कुछ सिद्धि नहीं होती। और सिद्धि क्या करना है? अधिकसे अधिक धनका संचय कर लिया जायगा, पर कभी एक साथ वह सब छोड़कर जाना भी तो होगा। उसकी भी सिद्धि क्या सिद्धि? कोई वर्तमानमें विषयोंका साधन जुटा लिया जायगा, पर उसके फलमें आखिर होगा क्या? पछतावा होगा, पतन होगा, विषाद होगा, कर्मबंध होगा। कपटसे कुछ सिद्धि भी है क्या? कपटसे यश मलिन हो जाता है।

मायाचारसे महापुरुषोंका भी अपवाद—देखिये भैया! जिस समय द्रोणाचार्य गुरुकी युद्धकुशलतासे पाण्डवोंकी सेना हटने लगी थी तब द्रोणा

चार्यको विरक्त चित्त करनेके लिए शायद श्रीकृष्णजीने युधिष्ठिरको सलाह दी थी कि वहां जाकर कह देना— अश्वस्थामा मृतः, अश्वस्थामा था एक हाथीका नाम और अश्वस्थामा ही द्रोणाचार्यके लड़केका नाम था। युधिष्ठिर बोला— मैं वहां कैसे झूठ बोल दूंगा। मरा तो नहीं है। कहा अरे फिर धीरेसे कह देना— नरो वा कुञ्जरो वा। अश्वस्थामा मर गया, हाथी हो या मनुष्य। खैर, युधिष्ठिर ने वहाँ चिल्लाकर कह दिया मुख्य शब्द। द्रोणाचार्य खेद खिन्न होकर उससे विरक्त हो गये, पर यह बात अब तक लिखी चली आ रही है। कपटका लेशमात्र भी सर्वगुणोंको मलिन कर देता है। जैसे विषकी जरा-सी कणिका भी विशाल दुग्धको मलिन कर देती है।

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमोहयः ॥२२१॥

मायाचारसे दूर रहनेका उपदेश—यह मायाचार महागर्त है जो कि मिथ्यारूप घनाधकारसे व्याप्त है उससे डरना चाहिए। कोई बड़ा गहरा गड्ढा हो और चौड़ा हो, और यह भी विदित हो कि यहाँ गड्ढा है तो वहाँ कितना डरते हैं, यह डरनेकी चीज है, ऐसे ही यह मायाचार एक विशाल गड्ढा है और वह भी मिथ्याघनांधकारसे व्याप्त है। देखिये उस गड्ढेमें क्रोधादिक कषायोंरूप विषमरूप विषम सर्प भी बसे हुए हैं, वे दिखनेमें भी नहीं आते, ऐसे ही इस मायाचार गर्तसे डरना ही ठीक है, बचना ही ठीक है। जो पुरुष संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हैं वे पुरुष इस मायाचार पर विजय प्राप्त करते हैं। शरीरसे अति अनुराग हो, ससार के वैभवसे अति अनुराग हो, अपने भोगसाधनोंसे प्रेम हो तो ऐसी स्थिति में मायाचार पर विजय प्राप्त करते हैं। शरीरसे अति अनुराग हो, संसार के वैभवसे अति अनुराग हो, अपने भोगसाधनोंसे प्रेम हो तो ऐसी स्थिति में मायाचारका होना प्राकृतिक बात है। जो मायाचारसे दूर होना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे पहिले तत्त्वज्ञानसे अपनेमें विरक्ति उत्पन्न करें। और जो तृष्णाका काम है, धनसंचयका काम है उस प्रसंगमें तो मायाचार प्रायः बहुत बहुत निवास करता है। लोभ और माया ये दोनों रोग हैं, इनका परस्परमें सहयोग है।

मायाचारकी विचित्रता—एक बार किसीने बादशाहसे कहा— महाराज आपके नगरमें जो वणिक्जन हैं उनकी बुद्धिकी, उनकी बातकी कोई थाह नहीं ले सकता। हाँ ऐसे चतुर होते हैं। चतुर कह लो, मायाचार वाले कह लो। बादशाहने कहा अच्छा देखेंगे उनको। बादशाहने क्या किया कि आंगनमें बहुत विशाल गेहूंका ढेर लगा दिया और फिर वणिक-

जनोंको बुलाया, कहा बतलावो यह क्या चीज है ? सब आपसमें कहने लगे कि बात क्या है, दुनिया जानती है कि यह गेहूं हैं और फिर बुलाकर के इतनी सी बात पूछी जा रही है, इसमें कुछ बात है जरूर । सो आपसमें सलाह करके कहा—महाराज कल बतावेंगे कि यह क्या चीज है, अच्छा भाई कल बताना । सब वणिक जनोंने गोष्ठी की और सोच विचार कर अपना समाधान बना लिया । पहुचे दूसरे दिन उस गेहूके ढेरके पास । मंत्री बादशाह सब बैठ गए । आधेलोग तो उन वणिक जनोंमें से एक तरफ खडे हुए थे और आधे लोग एक तरफ खडे हुए थे । मंत्रीने पूछा बतावो यह क्या चीज है ? तो एक तरफ खडे हुए वणिक लोग बोलेंगे और दूसरी तरफ खडे हुए वणिक लोग बोले 'हू' । मत्रीने कहा—महाराज देखिये न चतुराई, कल उत्तर नहीं दिया और आज भी किसी एक ने उत्तर नहीं दिया कि क्या चीज है ?

तृष्णा और मायाचारका परस्पर सहयोग—तृष्णाका और मायाचारका परस्परमें सहयोग है । तृष्णाके प्रति मायाचार मदद करते हैं, मायाचारके प्रति तृष्णा मदद करती है । हे कल्याणार्थी जनों, कुछ भी हो—आखिर एक बार अपने अन्तरमें यह एक वेदना तो उत्पन्न करो कि इस ससारमें इस ही प्रकार जन्म मरण करते रहनेमें कौनसा श्रेय प्राप्त हो जायेगा ? अपने आपको ससारसंकटोंसे बचा लेना और बचा क्या लेना, सही आनन्द लूट लेना बस यही तो करना है । धर्म करके क्या दुःखी रहने के लिए धर्म किया जाता है ? नहीं । धर्म तो वास्तविक आनन्दकी प्राप्तिके लिये किया जाता है । क्रोध और मानका परस्परमें सहयोग है । क्रोधसे मान बढता है, मानसे क्रोध बढ़ता है । जैसे क्रोध और मान कषायका परस्परमें सहयोग है इस ही प्रकार तृष्णा और मायाका परस्पर सहयोग है । ऐसे मायाचारसे बचना चाहिए ।

माया शल्यके परिहारका उपदेश—देखो थोड़ी भी माया हो तो वह शल्यका रूप रख लेती है और जहा शल्य हो वहां सम्यक्त्व भी नहीं बताया, व्रत भी नहीं बताया । माया, मिथ्या, निदान—ये तीन शल्य हों तो उसे ज्ञानी पुरुष नहीं कहा है । अपने को सरल रक्खो, कपट धोखा छल, विश्वासघात-इनको न पनपने दो, पापोंसे बचे रहो । कुवासना करने की आवश्यकता क्या है ? इस मायाचारके गड्ढेमें सारी विपत्तियां छुपी हुई हैं, सब लोग इसका अनुभव भी कर चुके होंगे । कोई छल कपट करता है तो कितनी यातनाएँ उठानी पड़ती हैं । सब संकटोंसे बचना है तो अपने जीवनमें सरलताका प्रयोग करना चाहिए ।

प्रच्छन्नकर्म मम कोपि न वेत्ति धीमान्,
ध्वंसं गुणस्य महतोपि हि नेति मंस्थाः
कामं गिलन् धवलदीधितिधौतदाहो,
गूढोप्यबोधि न विधुः सविधुन्तुदः कैः ॥२२२॥

मायाचारकी प्रकटता और उसके त्यागका उपदेश—हे जीव, तू ऐसा मत मान कि मेरे कोई प्रच्छन्न कर्म नहीं जानता है, बडे बुद्धिमान् भी नहीं समझ सकते हैं अन्य लोग तो क्या जानें और जो मुझमें खास विशेष गुण हैं उन गुणोंको ये पाप कैसे अच्छादित करेंगे, ऐसी बात कभी मत समझ। उज्ज्वल चन्द्रमाको बड़े गुप्त रूपसे यह राहु निगलता है, चाहे मानों राहु यह समझता हो कि मैं जो एक ज्योतिमान चन्द्रबिम्बको इन्द्रके विमानको डस रहा हू उसे कोई नहीं जानता, लेकिन ज्योंही राहु चन्द्रको ग्रसता है त्यों ही सब लोग जान जाते हैं कि राहु ने चन्द्रको ग्रसा है, ऐसे ही तू यह सदेह मत रख और अपने चित्तसे इन कषायोंका परित्याग कर। यों कषायत्यागके प्रकरणमें, माया कषायके सम्बन्धमें वर्णन किया। अब लोभ कषायके वश होकर जीव क्या करता है ? इसे दिखा रहे हैं।

वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः,
किल जडतया लोलो वालव्रजे विचलं स्थितः।
बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः,
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः ॥२२३॥

लोभसे हानिपर एक दृष्टान्त—वनमें एक सुरही गाय हुआ करती है जिसकी पूँछके बालोंका पुञ्ज बड़ा सुहावना होता है और गायोंकी पूँछ के बालोंका पुञ्ज तो काला कठोर, असुन्दर होता है पर उस सुरही गाय की पूँछके बालोंका पुञ्ज अति कोमल, सफेद, सुन्दर होता है, जिसे आप लोगोंने शायद विवाह बरात आदिमें देखा होगा। अथवा अन्य लोग जो रथ वगैरह निकालते हैं उसमें भी उस गायकी पूँछका प्रयोग करते हैं ऐसा देखा भी होगा। वह पूँछ सुन्दर होती है, उसका बहुत विस्तार होता है। वह चमरी गाय मानो शिकारियोंके भयसे दौड़ती हुई जा रही है, पीछे शिकारी लगे हैं और उनसे प्राण बचानेके लिए वह गाय दौड़ लगाये जा रही है, दौड़ते दौड़ते किसी जगह उसकी पूँछका बालपुञ्ज अटक गया, बस आगे गाय तो पूरी निकल गयी पर किसी झाड़ीमें उसका पूँछ-पुञ्ज अटक गया। अब वह गाय इस लोभमें कि मेरी बड़ी सुहावनी पूँछ है, बडे सुन्दर बालपुञ्ज हैं, मैं यदि भागती हूं तो यह बालपुञ्ज टूट जायेगा, उस बालपुञ्जके लोभसे वह गाय वहीं खड़ी रह जाती है, शिकारी आता है और उसको पकड़ लेता है। अरे वह बालपुञ्ज भी टूट जाता तो क्या

हर्ज था? भाग जाती तो प्राण तो बच जाते। थोडेसे उस बालपुञ्जके लोभ में आकर वह खड़ी रह गयी और शिकारियोंके द्वारा अपने प्राण खो बैठी।

लोभसे हानि—इसी प्रकार इन परद्रव्योंके लोभसे जो कि न कुछ चीज हैं भला, यह अनन्तशक्ति अनन्तज्ञानका पुञ्ज आत्माको शान्ति रहे इसके लिए यह सारी सम्पदा भी त्यागनी पड़े तो कौनसी बड़ी बात है? इस आत्माको शान्ति मिले इसके लिए यदि कुछ थोड़ेसे परद्रव्योंको त्यागना पड़े तो कोई बड़ी बात है क्या? शान्तिके लिए ही तो सब कुछ किया जाता है, पर मोहका जिसके उदय है, लोभकषायका रंग जिसपर चढ़ा है वह जरा-जरासी बातोंपर अपने आपको विपत्तिमें डाल लेता है। किसी भी प्रकार हो पैसा आना चाहिए, सम्पदा जुड़नी चाहिए। चाहे स्वयंकी कुछ भी स्थिति बने, व्याकुलतामें चाहे जीवन चला जाय पर लोभका विषय नहीं छूटता। जो तृष्णाके आधीन होते हैं प्राय: करके उन पर ऐसी ही अचानक विपदा आती रहती है।

विषयविरति सगत्याग कषायविनिग्रह:,
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यम:।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता,
भवति कृतिन संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥२२४॥

विषयविरति—ऊपरके कुछ श्लोकोंमें यह बताया है कि जगतके प्राणी चारों कषायोंके वशीभूत होकर अपने प्राण, अपना जीवन संकटपूर्ण व्यतीत करते हैं। इस छदमें यह बतला रहे हैं कि जिन जीवोंका यह ससारसागर निकट आ गया है अर्थात अब ससारसे मुक्ति पानेका समय निकट आ गया है तो भव्यजनोंको इतनी बातोंका समागम प्राप्त हो जाता है या ऐसी निर्मलता जगने लगती है—पहिली बात तो विषयोंसे विरक्ति। इस जीव पर मोहित विपदा छायी हुई है वह है विषयोंसे प्रेम। जितने भी दद फद आकुलता विपत्तिया होती हैं वे सब विषयोंके प्रेमसे होती हैं। मोहमें लोग इसे बड़ा सस्ता समझते हैं। हुआ किसी विषयसे प्रेम और साधन जुटाया उसे भोग लिया। इसे लोग अपनी कला चतुराई और पुण्य का उदय मानते हैं लेकिन इस जीवको विपत्तियोंमें जन्ममरणकी परम्परा में फँसाने वाला यह विषयोंका अनुराग है। ऐसे भव्यपुरुषोंके जिनका कि ससार तट निकट आ गया है उनके विषयविरक्तिका परिणाम उत्पन्न होता है।

परित्याग—दूसरा कल्याणका साधन है परिग्रहत्याग। चित्तमें परपदार्थोंके प्रति मूर्छा परिणाम न होना, परपदार्थोंसे अपनेको एकमेक मान लेना, परसे हो अपना हित समझना—ये सब एक परिग्रह हैं। बाह्य-

पदार्थ परिग्रह नहीं हैं वे तो उपचारसे परिग्रह कहलाते हैं। चूँकि मूर्छाके विषयभूत हैं वे बाह्यपदार्थ और मूर्छा ही निश्चयसे परिग्रह है। तो उस मूर्छाके साधनभूत बाह्यपदार्थोंको यह सूचित किया करता है। अन्तरङ्ग परिग्रह होने पर तो ऐसा कारणमें कार्यका उपचार करके कहा जाता है कि यह बाहरी सम्पदा विभूतिपरिग्रह है, इसको भी त्यागना और उन पदार्थोंके प्रति जो मूर्छाका परिणाम होता है उसका भी त्याग करना यह किसी बिरले भव्यजीवको प्राप्त होता है।

कषायविनिग्रह— कषायविनिग्रह— कषायोंको मोथ डालना, जैसे कोई ज्यादा गाली बकता हो तो उसका मुँह पकड़कर ठोक डालते हैं इसे कहते हैं विनिग्रह। अथवा जैसे बदरको सांप मिल जाय तो वह उसके फनको कुचल देता है। ऐसा ही समझिये विनिग्रहका अर्थ। उठती हुई कषायोंका न उठने देना, उनको बुरी तरहसे मोथ डालना, समाप्त कर देना, कषाय विनिग्रह है। कषाय जगने पर किसे अपने हितकी सुधबुध रहती है? वह तो क्रोध करेगा तो क्रोध करके दूसरेका बिगाड़ करनेमें ही अपना हित समझेगा। मान कषाय जगेगी तो लोगोंमें, अपना मान रखा लेनेकी बात करा लेनेमें ही उसे शान्ति समझमें आयगी। और कोई कोई ऐसे भी मूर्ख होते हैं कि अपना मानकषाय रखने के लिए सभामें बड़ा लम्बा चौड़ा भाषण करेंगे जिसे सुनकर लोग ऊब जायें। चाहे बीचमें ऊबकर लोग धीरे-धीरे ताली भी बजाने लगें पर वह तो यही समझेगा कि मेरा भाषण लोगों को खूब पसंद आ रहा है। यह एक दृष्टान्त लिया है। ऐसी बहुत सी घटनाएँ होती हैं कि यह मानका चाहने वाला समझ तो रहा है कि मेरा मान बढ़ रहा है लेकिन लोग उसे उल्लू बना रहे हैं ऐसी भी स्थिति होती है। तो मान कषायके उदयमें किसीको अपने हितकी सुध नहीं रहती है। यों ही माया कषाय इसका विनिग्रह भी बहुत कठिन है। लोभ कषाय, इन चार कषायोंका विनिग्रह करना यह किसी विरले संतमें बात बनती है जिसका कि यह संसारसमुद्रका तट निकट आ गया हो।

समूल कषायविनिग्रहकी साधना— जिसकी जन्मसे ही किसी कषायकी प्रकृति बनी हो और वह अपनी उस जन्मजात प्रकृतिको बदल दे तो इसके लिए बड़े ज्ञानबलकी आवश्यकता है। कोई एक चोर था, उसे कुछ ज्ञान वैराग्य जगा, कुछ उपदेश मिला और साधु बन गया। कमंडल पिछी ही तो रहती है साधुवोंके पास। साधुवोंके बीच रहने लगा। जब रात्रि आयी तो उसने क्या किया कि सभी साधुवोंके कमण्डल इधर उधर कर दिये। सुबह हुआ तो देखा कि कमण्डल सभी इधर उधर पड़े हुए हैं। पूछा कि यह किसने किया है? तो उसने बताया कि महाराज हमने यह काम किया

है। क्यों ऐसा किया ? उसने बताया कि महाराज यह पहिली ही तो रात थी चोरीके त्यागकी। चोरीका त्याग तो कर दिया, पर वह प्रकृति कहाँ जाय, सो चोरी तो कर न सकता था, नियम ले चुका था लेकिन टारा व टोई न छूट सकी। जो उसने सभी कमण्डलोंको रात्रिको इधर उधर कर दिया तो यह उसकी जन्मजात प्रकृति ही तो हुई ना। कषायोंका विनष्ट करना किसी विरले ही योगी वली साधुके सम्भव होता है।

शम, यम, दम—कषायोंका शमन, कषाय शान्त कर लेना और व्रतों का पालन करना—यम—जो व्रत लिया है उसका आजीवन पालन करना यम कहलाता है, इन्द्रियोंका दमन करना। कोई कोई तो गृहस्थ भी ऐसे होते हैं कि उनके मनमें आया कि आज खीर खाना है सो तुरन्त कह दिया कि आज खीरका त्याग है। क्यों खीर खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई ? उस इच्छाका तुरन्त ही वह दमन कर देता है। इस प्रकारसे इच्छाओंका दमन करना यह भी मुक्तिका मार्ग है। कुछ इस प्रकारके भी सद्गृहस्थ पाये जाते हैं। इन्द्रियोंसे कुछ भी विषयोंका प्रोग्राम रचा, बस वह भव्य जीव उस इच्छाका तुरन्त ही दमन कर देता है। सहज हो गया तो हो गय, कुछ सेवन, पर प्रोग्राम रचना, संकल्प बनाना और उसके बाद आकुलताएँ उत्पन्न होना यह बात ज्ञानी पुरुषको पसंद नहीं है। इन्द्रियोंका दमन यह सबको मिल जाता है क्या ? जिनकी मुक्ति निकट है उनके ही ऐसा परिणाम होता है।

तत्त्वाभ्यास व नियमित मनोवृत्ति— तत्त्वाभ्यास-वस्तुस्वरूपका मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वोंका अभ्यास करना, भावना करना, उसमें उपयोग लगाना, यह बात भी क्या हर एक जीवमें सम्भव है ? अरे जिसकी मुक्ति निकट है, होनहार उत्तम है, ऐसे पुरुषोंको ही तत्त्वाभ्यास प्राप्त है और तपश्चरणका उद्यम—ऐसी उत्सुकता जगनी चाहिए कि मैं तपमें उद्यमी बनूँ, तपकी रुचि जगना यह भी जिनका भवितव्य उत्तम है ऐसे महत जनोंक काम है। वे ही इसे कर सकते हैं। नियमित मनोवृत्तिसे मनकी वृत्तिको, मनके चलावाको नियमित कर देना, जहाँ चाहे वहाँ ही मनको स्थिर कर सके ऐसी योग्यताका होना विरले संत पुरुषके ही सम्भव है।

योगाभ्यास—योगाभ्यासमें जो प्रक्रियाएँ की जाती हैं वे मनको एक जगह टिकानेके लिए की जाती हैं। किसी स्थानपर कोई निशान बना दिया उसको एक पलकसे देखते रहना कुछ देर तक, यह भी एक योगाभ्यास है। यह भी मनको स्थिर करने का एक साधन है। किसी बिन्दुको एक पलकसे टकटकी लगाकर देखना, उसही लक्ष्यका ध्यान करना ऐसा जो योगाभ्यासमें किया जाता है उसका यही तो प्रयोजन है कि यह मन एक

जगह टिक जाय। मनकी वृत्तिको नियमित कर देना यह भी विरले संतोंके होता है, साथमें उस योगाभ्यासीके सम्यग्ज्ञान भी हो तो उसकी सफलता मिलती है।

जिनेन्द्रभक्ति और दयालुता—जिनेन्द्रभक्ति-रागद्वेष रहित अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त सुखसे सम्पन्न, निष्कलंक गुणोंके निधान ऐसे परमात्मदेवके प्रति भक्तिका उपजना विरले ही सुभवितव्य वाले जीवके होता है। अन्यथा स्त्री पुत्री पुत्र मित्र कुटुम्ब बच्चे संतान इन ही इनही में अनुराग बना रहता है, तो प्रभुभक्तिका होना, यह युक्ति जिनकी निकट है उनके सुगम है। दयालुता—हृदयमें दया बनी रहना। किसी भी जीवको दुःखी करनेका, उसका अकल्याण करने का परिणाम न रखे, चित्तमें उसके हितकी ही भावना जगे, ऐसी कृपाका परिणाम होना विरले ही सुभवतव्य वाले जीवके होता है। जिनके संसारसमुद्रका तट निकट आ गया है ऐसे सौभाग्यवान जीवोंके ही इतनी बातें हुआ करती हैं।

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा,
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥२२५॥

क्लेशजालके विनाशक ज्ञानी संत—यम और नियम आदिक योगाभ्यास की मूल प्रक्रियाओंमें जो तत्पर हैं, जिनको अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सर्वत्र निर्दोषता प्रकट हुई है, जिनका समतारूप चित्त बना है, सर्वप्राणियोंमें जो अनुकम्पा भाव रखते हैं, जो हित और परिमित भोजन करते हैं, जो सदा जागरूक होते हैं, जिन्होंने अध्यात्मका सार निश्चित कर लिया है ऐसे योगी महापुरुष क्लेशजालको मूलसे नष्ट कर देते हैं।

यमी, नियमी और शान्त पुरुष—यम कहते हैं आजन्म किसी पदार्थके त्याग करने को अथवा उपादेयके ग्रहण करने को और नियम कहते हैं कुछ निश्चित समयके लिए वस्तुके त्याग करने को। जिनका यम और नियममें उपयोग बना रहता है ऐसे पुरुष क्लेशजालोंसे छूटनेका उपाय बना सकेंगे। जिनका अनुराग आत्मशान्तिमें है और उसके प्रतापसे बाह्यमुद्रा भी जिसकी शान्त इष्ट होती रहती है जिसके निकट कोई जीव आये तो वह भी शान्तिका पाठ लेकर जाय। स्वयं भी शान्तिके यत्नमे बन रहा है ऐसा शान्त पुरुष क्लेशजालको समूल नष्ट करता है। जिसके समता भावका परिणमन हुआ है, रागद्वेष मोहका परित्याग करके केवल ज्ञाता द्रष्टारूप रहकर जो एक समताके सन्मुख हुए हैं ऐसे समतारूप परिणमन

करने वाले पुरुष इन क्लेशसमूहोंको समूल नष्ट कर डालते हैं। जो क्लेश जालको नष्ट करनेके उद्यमी हैं उनकी बाह्य और अंतरङ्ग प्रवृत्ति भी उत्तम होती है।

विहितहितमिताशिता—अहितकारी या भरपेट भोजन करने वाला व्यक्ति तो उसी दिनका क्लेश नहीं मिटा पाता। आसक्त होकर रसीला भोजन कर लिया और खूब ठूँस ठूँसकर पेट भर लिया ऐसी जिसकी वृत्ति है आप सभी लोग जानते हैं कि उसको उसी दिनके कष्ट मिटाना कठिन हो जाता है। जिसने खानेके लिए ही अपनी जिन्दगी समझी है ऐसा पुरुष भविष्यके तो क्या, उसी दिनके क्लेशको भी नहीं मिटा पाता है। और जो एक दिनका भी क्लेश नहीं मिटा सकता वह संसारके क्लेश-जाल तो मिटायेगा ही क्या ? विमुक्ति चाहने वालोंको हित और परिमित शास्त्र विधिके अनुसार योग्य आहार लेने वाला होना चाहिए। जिस पुरुष को कम खानेसे अपने आपमें एक प्रसन्नता और धर्मरुचि जगती है, अथवा उपवास आदि करके अपने आपमें कुछ आत्मलाभ जो समझता है वह पुरुष ही क्लेशजालको दूर करनेमें समर्थ हो सकेगा। यदि कोई दूसरेको दिखानेके लिए उपवास करता है तो उसने भूखका भी दुःख सहा और कुछ लाभ भी न उठा पाया। कोई अपनी प्रशंसाके लिए थोड़ासा ही खाकर उठ आये तो वह भी कोई भली बात नहीं है। जैसे किसी लालाजी के खानेके पहिले ही कोई कह दे कि लालाजी तो खाते क्या हैं। फूलसा सूँघते हैं और लालाजी अपनी प्रशंसा सुनकर थालीमें थोड़ासा खाकर ही उठ पड़े तो यह कैसी बात रही ? अपने आपको सन्तोष और आत्म-लाभ देने वाला परमार्थ भोजन तो ज्ञानी संतजन ही किया करते हैं और वे साधुसंतजन अपने संसारके क्लेशजालोंको दूर कर देते हैं। जिन ज्ञानी पुरुषोंने अध्यात्मका सार निर्णीत किया है वे लोग बेहोश होकर नींद नहीं लिया करते हैं, वे सदैव अपने ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव किया करते हैं। इस प्रकारकी शुद्ध प्रतीति और शुद्ध अभ्यास रखने वाले संतजन क्लेशजालोंको समूल नष्ट कर डालते हैं।

समधिगतसमस्ता सर्वसावद्यदूरा,
स्वहितनिहितचित्ता· शान्तसर्वप्रचारा।
स्वपरसफलजल्पा सर्वसंकल्पमुक्ता,
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ता ॥२२६॥

विमुक्तिके भाजन—जिसने समस्त वस्तुओंका स्वरूप जान लिया है, जो सर्वप्रकारके पापोंसे दूर हो गये हैं, जिन्होंने अपने हितमें ही चित्तको रक्खा है, सर्वप्रकारके प्रचार, इन्द्रिय विलास, स्वच्छन्दताएँ जिनकी शान्त

हो गयी हैं, जो अपना और परका हित करें इस प्रकारके सफल जिनके वचन निकलते हैं। जो सब तरहके संकल्प-विकल्पोंसे मुक्त हैं ऐसे भव्य पुरुष मुक्तिके पात्र क्यों न होंगे?

हेय उपादेयके ज्ञान बिना सम्यग्ज्ञानका अभाव—हेय क्या है, उपादेय क्या है? इसका जिसने ज्ञान किया है वही वास्तवमें ज्ञानी है। यों तो आजके युगमें भी बड़े-बड़े आविष्कार और विज्ञानके ज्ञानी मौजूद हैं किन्तु आत्माके हितके लिए हेय क्या है और उपादेय क्या है? यह बात उनकी दृष्टिमें नहीं है। और जिनके है वे वैज्ञानिक होकर भी आत्मज्ञानी हैं, इस पर मूलसे विचार किया जाय तो परभावों पर ही घटावो। पदार्थोंमें कौन-कौन हेय है, कौन पदार्थ उपादेय है? इस तरहका परीक्षण न करो, जितने भी पदार्थ हैं उनका इस आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है, वे तो हेय ही हैं। अपने आपके परिणामोंमें यह छटनी करो कि कौनसा परिणाम हेय है और कौनसा परिणाम उपादेय है?

हेय और उपादेय भाव—जो पराधीन परिणाम है वह तो हेय है और जो स्वाधीन परिणाम है वह उपादेय है। इसका तात्पर्य समझ लो। जो विषय कषायोंके परिणाम हैं, दुनियावी परिणाम हैं, नेतागिरी आदिके परिणाम हैं वे सब परिणाम पराधीन हैं। लोकमें यश चाहनेका परिणाम तो बिल्कुल मूढ़तासे भरा हुआ परिणाम है। परिणाम कौनसा उपादेय है इसको अपने भावोंमें घटायें। जो परिणाम मेरे स्वाधीन है वह उपादेय है। मेरा उपयोग मेरे खुदके स्वरूपको जाननेमें लगे तो यह क्रिया स्वाधीन है। किसी दूसरे जीवकी इसमें आधीनता नहीं है। कोई प्रशंसा कर दे, कोई आजीविका लगा दे, कोई कुछ करे उसमें पराधीनता नहीं है क्या? उसमें पराधीनता है। अपने स्वरूपके ज्ञातृत्वकी बात तो अपने उपयोग की बात है, यह उपयोग अपने आपको जानने लगे, यह स्वाधीन क्रिया है, स्वाधीन काम है। यह परिणाम उपादेय है। जो परिणाम दूसरेके आश्रयसे बनता है, दूसरेका विषय करके बनता है वह पराधीन है। पराधीन भावोंकी वाञ्छा भी मत करो। किसी परिस्थितिमें पराधीन रहता है तो भी उसे हेय तो मानो। जो पुरुष हेय और उपादेयके स्वरूपसे अवगत हैं वे ही पुरुष मुक्तिके पात्र हो सकते हैं।

दुर्लभ समागमके सदुपयोगके प्रसंगमें—देखिये उत्तम कुलका पाना, उत्तम धर्मका पाना, सत्संगतिका मिलना, देव, शास्त्र, गुरुके स्वरूपका बोध हो जाना, अपने आत्माके गुणोंका परिचय हो जाना और साधारण रूपसे तीन लोक तीनकालकी बातें भी समझमें आना, इतनी बड़ी बातें कितनी दुर्लभ हैं, ये बातें किसी और को मालूम हैं क्या? भैंसा, हाथी

आदि ये तो बड़े ताकतवर हैं, हम आप जैसे सैकड़ोंको घायल कर दें, इतने ताकतवर हैं। इनको तुम्हारी जैसी बातें मालूम हैं क्या? और अन-गिनते यहाँ कीड़ा, मकौड़ा, पेड़ पौधे हैं उन्हें इतनी बात मालूम हैं क्या? कितनी अच्छी स्थितिमें हैं हम आप, और यहां व्यर्थकी मैं-मैं तू तू मेरा तेरा, जरा जरासी बातोंमें धर्मका लाभ न ले पायें, उस निर्विकल्पतत्त्वकी झांकी न ले सकें तो बतावो यह कितने खेदकी बात है। फिर भविष्यमें क्या किया जायगा? मनुष्य होकर मनुष्यके योग्य करनी हो तो आशा है कि हम आगे भी मन वाले जीव बन जायेंगे, पर करनी खोटी हो और इस कारण मनरहित बन गए, कोई कीड़ा मकौड़ा बन गए तो उन कीड़े मकौड़ोंकी कौन कदर करता है, इनकी जिन्दगी क्या जिन्दगी है? ऐसा ही जीवन मरण करके मिल गया फिर क्या कर लोगे? यहां तो कुछ सन्तोष नहीं करते।

तृष्णामें दुःखकी ही साधना—भैया! तृष्णामें ही जिनका चित्त है उनको तो रोटी खानेका भी सुख नहीं है। और की तो बात जाने दो। रोटी तकके खानेका सुख नहीं है। तृष्णामें चित्त पड़ा है, जगह जगह चित्त डोल रहा है। तृष्णा किस बात परकी जाय? कौनसी चीज यहांसे उठाकर ले जावोगे, मरनेपर मान लो पुत्रोंके लिए छोड़ गये तो मरनेपर काहेके पुत्र। कहांके कहां गए, कहांके कहां पैदा हुए, कुछ नाता है क्या? तृष्णा बुरी बला है। सारे जीवनको तृष्णा किरकिरा कर देती है, और शायद मनमें यह आ जाय कि हम तृष्णा नहीं करते हैं, ये पड़ौसी धनी हैं, इनको देखकर धन संचयकी हमारे मनमें कुछ बात आ जाती है। अरे तो तुम्हारे दुःखमें उनकी कुछ सत्ता हो गयी क्या? खुद जो मन न सभालें, ज्ञान-प्रकाश सही न रक्खें तो जगह-जगह दुःखी होंगे। यह अपने भलेकी बात कही जा रही है।

खुदकी सभालसे सब सभाल—भैया! खुदके ही विचार खुदके साधक और खुदके बाधक बनते हैं। अपने आपको सभालना होगा। खुदके ही सभालसे सब सभाल है। दूसरेसे अपने संभालकी भीख मागते फिरना अरे भाई, अरे स्त्री, अरे बच्चो, तुम हमारी आज्ञा मानो तो हम सुखी रहें। देखो हम जीवन भर तुम्हारे सुखके लिए सब कुछ करते रहे अब तुम हमारी कुछ कदर भी नहीं करते। यह दूसरोंसे भीख मागना ही तो है। तुम्हारे जो राग उठा था उसमें जैसा बन सका कर्तव्य किया; अब इनका जैसा परिणाम है वैसे ये चलते हैं। चलो हम भी कुछ खेल देख रहे हैं, उनके ज्ञातादृष्टा रहें। इतना तो साहस होना चाहिए।

वस्तुस्वरूपके परिज्ञानका फल तो यही है कि शान्त और सन्तुष्ट

रह सकें। कुछ भी परिस्थिति आये, जैसे लोग कहते हैं, कालेका सफेद हो जाय या सफेदका काला हो जाय, कैसी भी कठिन स्थिति बन जाये, किन्तु उसके ज्ञाता द्रष्टा रहें, यह परका हो रहा है। कालासे सफेद हो जाय तो परका हुआ, सफेदसे काला हो जाय तो परका हुआ। हम तो सर्वप्रसंगों में सबसे न्यारे केवल अपने स्वरूपमात्र हैं। निजस्वरूपकी दृष्टि बनायें, कषायों पर विजय करें, ये सब बातें ज्ञानपर ही तो निर्भर हैं। हेय और उपादेय तत्त्वका यथार्थ बोध हो जिसके, वह पुरुष मुक्तिका पात्र क्यों न होगा? अवश्य होगा। हम सम्यग्दृष्टि हैं, यह मिथ्यादृष्टि है; इस कल्पना में क्या रखा है? जो योग्य बात है, तत्त्वकी बात है उस पर जमकर रह जायें। समीचीन दृष्टिसे ही भला है। जिसमें हेय और उपादेयका यथार्थ ज्ञान है वह निकट भव्य जीव है।

सर्वसावद्यदूराः—जो सर्वप्रकारके पापोंसे दूर हैं वे मुक्तिके पात्र क्यों न होंगे? सबसे बड़ा पाप तो मिथ्यात्व है, मोह है। कोई मनुष्य मोह परिणाम तो रखे रहता हो और शरीरकी शुद्धि, कपड़ोंकी शुद्धि, पूजा, तिलक और बड़ा ध्यान जाप ये सब विधियां करे, पर अन्तरङ्गमें मोहकी गाँठ न मिटे, यह भेदविज्ञान ही न जगे कि ये तो प्रकट भिन्न पदार्थ हैं, मेरा स्वरूप तो इस देहसे भी न्यारा चैतन्यमात्र है, यह बात न जगे और अपने प्रकाशका कभी अनुभव न हो, कभी अपने आपकी इस स्थितिके लिए उत्सुकता भी न जगे, खेद भी न हो कि यह क्यों नहीं होता तब बतावो हम धर्म कहाँसे पालें? ये कर्म हमारे हाथ पैरोंको देखकर नहीं आते, नहीं छूटते। इनका तो परिणामोंसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। अन्तरमें जो परिणाम हो जैसी चेष्टा हो, उसका निमित्त पाकर कार्माण-वर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। कर्म तो अचेतन हैं ना, वे बेईमानी कर ही नहीं सकते। उनके बँधने और छूटनेकी जो स्थिति बनती है वह हो रही है, यहाँ हम चेतन चाहे कुछ सोचा करें, अपनेको धोखा दें, दूसरोंको धोखा दें पर अचेतनका जो परिणमन है वह जैसा जब जिस प्रसंगमें होना होता है होता ही है, वह अचेतनमें है और चेतनका जो परिणमन है वह चेतनमें है। जो पुरुष समस्त पापोंसे दूर हो गये हैं वे मुक्तिके पात्र होते हैं।

स्वहितनिरतचित्ताः—जिन्होंने अपने हितमें चित्त लगाया है वे शान्तिके पथिक हैं, ऐसे ही पुरुष शान्त और सुखी रहते हैं और इन्द्रियों के प्रचार, इन्द्रियोंके विषय ये जिनके शान्त हो गये हैं, जो पहिले खाने के बड़े शौकीन रहे हों, अच्छी-अच्छी स्वादिष्ट चीजें बनाकर अथवा बनवा कर बड़ी उत्सुकतासे खाते हों और बहुत दिनोंके बाद कोई कारणसे

उनकी अभिरुचि नहीं रहे, बनाकर अथवा बनवाकर स्वादिष्ट चीजें खाने का शौक नष्ट हो गया हो तो वह यह भी अनुभव कर सकता है कि हमारा रसनाइन्द्रियका प्रचार शान्त हो गया है। ऐसे समस्त इन्द्रियोंके विषय जिनके शान्त हो गए हैं—थियेटर आया, तो आया है ठीक है पर ऐसा भाव नहीं जगता कि चलो वहाँ चलकर देखना ही है, वहाँ चलकर यों सुनना ही है, ऐसा जिसका भाव ही न जगे, इसी को ही तो कहते हैं कि विषय शान्त हो गए हैं।

शान्तसर्वप्रचाराः—जिनके इन्द्रियोंके विषय और मनके विषय, नामवरी यशकी चाह— ये सब खत्म हो गए हैं, ज्ञान जग गया है, इस झूठी दुनियामें ३०, ३२ अक्षरोंके वहाँ वहाँ किन्हीं शब्दोंके रख देनेसे जो नाम बनता है उसके यशकी, नामवरीकी क्या चाह करना, इसकी कुछ भी सिद्धि नहीं होनेकी है। कौनसा तत्त्व उसमें बसा है, किसलिये व्यर्थमें परेशान हुआ जाय, इतनी बातमें हमारा अपमान न हो जाय, नाक न कट जाय, अनेक कल्पनाएँ जगती हैं। हाँ, अयोग्य काम न करें और अपने ही आत्महितकी जो वृत्ति हो उसे करते रहें। इतने पर भी कोई बुरा कहता है तो कहने दो। भला कहता है कहने दो। खुदमें नियत बुरी हो तो खुदका बुरा है। अपने को संभालें, अपनी नियत शुद्ध बनायें। जिसमें सर्वइन्द्रियोंके प्रचार शान्त हो गए हैं वे मुक्तिके पात्र क्यों न होंगे?

स्वपरहितवादी व सकल्पमुक्त—जिनकी वाणी अपने और पराये हित के लिए होती है, कितने शुद्ध वचन निकलते हैं, हितके ही वचन जिनके मुखसे निकलते हैं ऐसे हितशाली पुरुष मुक्तिके पात्र क्यों न होंगे? जो पुरुष सर्वसकल्पोंसे मुक्त हों वे ही पुरुष शान्तिके धनिक हैं। ये संकल्प विकल्प छूटना बहुत सरल काम है और बहुत कठिन भी है। कुञ्जी मिल जाय तो सरल है और न मिले तो कठिन कह लो या असम्भव कह लो। स्वयं क्या हैं किसी समय ऐसी झलक हो जाय, यह मैं एक सामान्य प्रतिभास स्वरूप हू, जिसका नाम नहीं, जिसकी कोई शकल सूरत नहीं, केवल एक ज्ञानप्रकाश है। तन्मात्र मैं हू, ऐसी जिसकी भावना है वही संकल्प विकल्प मिटानेमें समर्थ हो सकता है। जो विधि है वह तो की न जाय और नाना प्रकारसे सकल्प विकल्प दूर करने के यत्न किए जायें तो कैसे सफलता मिल सकती हैं? ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष ही मुक्तिके पात्र होते हैं।

> दासत्वं विषयप्रभोर्गतवतामात्मापि येषां पर—
> स्तेषा भो गुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्नश्यति।
> भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रय,
> भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वं तन्मुहुर्जागृहि ॥२२७॥

इन्द्रियचोरोंसे सुरक्षाकी चेतावनी—कोई धनी पुरुष अपने रिश्तेदार धनीको यों समझाता है जब कि कुछ गर्मीके दिन हैं, लूटमार बहुत हो रही हो, बड़े आतंक मच रहे हों तब समझाता है यह रिश्तेदारको। देखो यहाँ बहुतसे लोग जिनके पास धन नहीं है, कुछ भी नहीं है, सिर्फ करते खाते हैं वे निःशंक सो रहे हैं तो इनका क्या बिगाड़ है, ये तो लुटे हुए ही हैं। सावधान तो तुम्हें रहना चाहिए जो तुम्हारे पास धन है। या तो कहीं ढंगसे जमा कर दो या किसी जगह सुरक्षित रख दो, किसी शहर या कस्बेमें निवास करलो। अरे ये निर्धन पुरुष तो स्वयं ही निर्धन हैं, लुटे हुए हैं। इनका क्या बिगाड़ होता है, बिगाड़ तो तुम्हारा होता है जो तुम्हारे पास धन है। तो जैसे इस प्रकार कोई अपने रिश्तेदारको समझाता है ऐसे ही ज्ञानी पुरुष हितपंथकी रुचि रखने वाले लोग ज्ञानको समझाते हैं कि देखो इस जगतमें बहुतसे जीव जो विषय राजाके नौकर बन रहे हैं, जिनके गुण और दोषका कोई विवेक नहीं है, जो विषयोंमें मस्त हैं उनका क्या नाश होगा, वे अज्ञानी जीव तो खुद लुटे हुए हैं और जिन्होंने ज्ञान किया है, नियम लिया है, जो धर्ममार्गमें चल रहे हैं, वे सावधान न रहेंगे तो ये इन्द्रियरूपी चोर इन्हें लूट डालेंगे, बरबाद कर डालेंगे, इस कारण तुम जगो, भली भांति चेतो।

चेतावनीके उपदेशकी प्रयोजकता—जिस प्रकारके उपदेशसे, सम्बोधनसे यह आत्मा अपने आपके स्वरूपकी ओर झुके, सावधान रहे वे सब उपदेश कहनेके योग्य हैं। यह बात इसलिए कहनी पड़ी कि प्रायः करके लोग गतानुगतिक होते हैं। लोगोंकी देखादेखी अपने परिणामोंको शिथिल कर डालते हैं और ये सबके सब तो इस इस ढंगसे रहते हैं, उनको देखकर खानेमें, व्रतमें, संयममें, श्रद्धानमें शिथिलता आनेकी नौबत आ जाती है, तब समझाया है कि उनको देखकर तुम क्या सोचते हो? वे जीव तो लुटे पडे हैं, इनका क्या नाश होगा? ये तो निम्नतल पर ही हैं तुम अपनी देखो अन्त पुरुषार्थ करके ज्ञान करके इतनी ऊँची स्थिति पर हो गये हो। आपका आचरण भी ठीक है, अहिंसामय जीवन है और और प्रकारकी शुद्धि हैं। तुम सावधान हो। अपनी ज्ञानदृष्टि बनावो अन्यथा ये इन्द्रियरूपी चोर तुम्हें बरबाद कर देंगे, इस कारण तुम जगो। सावधान रहो ताकि ये इन्द्रिय चोर तुम्हें लूट लेंगे। देखो इन ससारी अज्ञानी जीवों की देखादेखी तुम अपना निर्णय न बनावो। अपने आपसे अधिक गुणी चरित्रवान पुरुषोंको निरखकर अपने कर्तव्यका निर्णय बनावो और आत्मभावना बनाकर अपनी शान्तिकी साधना करो।

रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो,
मुह्य वृथा किमिति संयमसाधनेषु।
धीमान् किमामयभयात् परिहृत्य भुक्तिं,
पीत्वौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥२२८॥

तुच्छमोहके त्यागका उपदेश--साधुजनोंको सम्बोधन किया जा रहा है कि हे साधु पुरुष! बडे रमणीक मकान, स्त्री, परिजन इन चीजोंको तो तूने त्याग दिया, इनमें तो मोह नष्ट कर दिया, अब वृथा तू संयमके साधनोंमें मोह क्यों कर रहा है? संयमके साधन हैं पिछी कमण्डलसे जो मुनि मोह रखता है ऐसे मुनिको समझाया है कि तूने बड़ी-बड़ी चीजों का तो मोह त्याग दिया, अब इन पिछी कमण्डल शास्त्र या जो भी साधन रखे हैं उनमें तू मोह कर रहा है। कोई लोग बहुत सुन्दर पिछी रखते हैं, खूब अच्छी लम्बी सुहावनी बढ़िया गुथी हुई जो देखते ही बने, ऐसे पिछी चाहते हैं तो कहते हैं कि हे साधु! बड़ी चीजका तो मोह छोड़ दिया, अब न कुछसी बातमें तू मोह कर रहा है तो यह कौनसी तेरी बुद्धिमानी है? कमण्डल भी बड़ा सजावजा अच्छा रंगबिरंगा हो, तो कहते हैं अरे साधु! तूने बडे-बडे मोह त्याग दिये, अब इस न कुछसी चीजमें मोह क्यों करता है? शास्त्रका मोह— पढते हों या न पढ़ते हों। काममें आता हो या न आता हो लेकिन कुछ शास्त्रोंका संग्रह कर रहे हैं। बढ़िया जिल्द है, बढ़िया ढंगसे रखे हैं, चाहे उनका उपयोग न कर पाते हों पर ये शास्त्र मेरे हैं ऐसी मान्यता बनी हुई है, ऐसी स्थिति है तो कहते हैं कि हे साधु! तूने बड़ी चीजका मोह तो त्याग दिया, अब इन चीजोंमें व्यर्थका मोह क्यों किये जा रहा है।

दृष्टान्तपूर्वक तुच्छव्यामोहपरिहार समर्थन—जैसे कोई रोगके भयसे रोग मेरा न बढ़े, इस उद्देश्यसे भोजनका तो त्याग कर दे और औषधि इतनी ले कि अजीर्ण हो जाय, यदि ऐसा कोई करे तो आप उसे बुद्धिमान् कहेंगे क्या? अरे इतने बडे भोजनको तो छोड़ दिया जिसके कि छोड़ने को किसीका जी नहीं चाहता है, और इस डरसे कि कहीं रोग न बढ जाये, अजीर्ण न हो जाय औषधिका सेवन किया है तो औषधिको तू मीठी अच्छी समझकर आवश्यकतासे ज्यादा खाले तो इससे तो तुझे कोई बुद्धिमान् न कहेगा। कहीं चूरण चटनी ही जरूरतसे ज्यादा खा लिया, अजीर्ण हो गया तो उसमें तेरी बुद्धिमानी तो नहीं रही। इस ही तरह हे साधु तूने मकान छोड़ा, राज्य छोडा, साहूकारा छोड़ा, दूकान छोड़ी, कुटुम्ब छोड़ा, सब कुछ छोड़ा। अब इन संयमके साधनोंमें मोह किये जा रहे हो। हे मुनिराज! इस व्यर्थके मोहका त्याग कर दो।

ज्ञानीका निर्मोह प्रवर्तन—ज्ञानी पुरुष तो धन वैभव परिजन परिग्रहों को छोड़कर निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करके संयमके साधन जो पिछी, कमण्डल, शास्त्र आदि हैं उनमें ममत्व नहीं करते। और उनसे ममत्व करे कोई तो वह बुद्धिमान् नहीं है। ममत्व है सो बंधका कारण है। जो ममत्व करेगा वह वीतराग भावको न पा सकेगा। सो रागवश होकर महाव्रतका भी विनाश कर लेगा। इसमें यह शिक्षा दी है कि जब बड़ी-बड़ी बातें छोड़ दी तो पासमें जो कुछ चीजें रहती हैं उनका उपयोग कर ले पर मूर्छा भाव मत कर। कोई पुरुष कमण्डल उठाकर भागे तो क्या साधु उससे झगड़ेगा, क्या साधु उसका पीछा करेगा? अरे ले गया तो ले गया। उससे यदि झगड़ा करता है तो मोहका दोष लगता है। ग्रन्थ पढ़ रहे हैं और उस ग्रन्थको कोई श्रावक देखकर थोड़ा विषय समझकर ऐसी इच्छा जाहिर करे कि महाराज यह ग्रन्थ तो बड़ा अच्छा है, पढने लायक है, इससे हमारा बड़ा उपकार होगा तो उसकी इच्छा लेनेकी जानकर मुनि क्या उससे यह कहेगा कि इसे हम नहीं देंगे, यह हमारा है? अरे मुनि तो यही कहेगा कि यदि आपके कामका है तो इसे ले जाइये। लो अब दृष्टि अपनी ओर देगा, चलो मनके विषयोंसे टले, विकल्पोंसे भी टले। यह मुनि तो तब आत्मदृष्टिमें रत हो जायगा। शास्त्र और गुरुका तो समान दर्जा है। गुरु स्वयं एक धर्ममूर्ति है तो आप समझें कि गुरुकी कितनी ऊँची तैयारी हो तब उसमें गुरुता कहाये। जो शास्त्रमें लिखा है वह बात जिसमें दिखती हो मिलती हो ऐसा जो धर्ममूर्ति है वही तो गुरु है। इन साधनोंमें भी गुरु को व्यामोह नहीं होता।

तपः श्रुतमिति द्वयं बहिरुदीर्य रूढं यथा,
कृषीफलमिवालये समुपनीयते स्वात्मनि।
कृषीवल इवोज्झितं करणचोरबाधादिभि—
स्तदा हि मनुते यतिः स्वकृत कृत्यतां धीरधीः ॥२२६॥

शुद्ध फलमें ही कृतार्थता माननेपर एक दृष्टान्त—जैसे कोई किसान खेत में बीज बोकर उसको बढ़ाकर काटकर, दाय कर अपने घरमें अनाज रख लेता है। किसानकी ऐसी बुद्धि होती है कि जब तक अनाज घरपर न आ सके तब तक वह उसे अपना नहीं समझता है। लोग कहते भी हैं कि जब घरमें अनाज आ जाय तब समझो कि हमारा है अन्यथा नहीं। कहीं चोर काट ले जायें, ओले बरष जायें अथवा ठंडी गरम रोगीली हवा चल जाय, पेड़में कीड़ा लग जाय, तो किसान जन जब अपने घरमें काट माड़कर अनाज ले आते हैं तभी समझते हैं कि यह हमारा है। घरपर अन्न लाने पर वे अपनी कृतकृत्यता समझते हैं। अनाज आनेपर उनको ऐसा सन्तोष

होता है जैसे मानो बड़ी-बड़ी बाधावोंको पार करके बड़ा संग्राम जीतकर कोई बहुत बड़ा फल लूटा हो, इस तरहकी कृतकृत्यता उनके दिलमें आती है।

तप और श्रुतके विशुद्ध फलमें ही कृतार्थता—ऐसे ही तप और श्रुत, तपश्चरण और ज्ञानार्जन—इन दोनोंको साधुजनोंने ग्रहण किया है। अब इनके फलमें यदि आत्मदृष्टि आत्मसन्तोष आत्मदर्शन ज्ञानानुभव बनता है तो वह समझता है कि हमने फल ठीक पाया। वे साधुजन कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं, और इस आत्मसन्तोष आत्मदृष्टिसे पहिले तपश्चरण भी वही बन रहा है, ज्ञानसाधनाका काम भी बन रहा है, पर यह नहीं मानता कि अब हमने कुछ पाया है, तप और श्रुत पाया है, अब इस बीच कोई विषयकषायका दुर्भाव न आये और जैसी व्रतसंयमसाधना जो कुछ चलनी चाहिए चलती रहे और ज्ञानानुभूतिके क्षण गुजरें तो वह समझता है कि हा हमने कुछ किया, कृतार्थता अनुभव करता है। जैसे किसान घरपर अन्न जब आ जाता है तभी सन्तोष मानता है ऐसे ही साधुजनोंको जब आत्मानुभवका क्षण बनता है तब उन्हें प्रतीत होता है—ओह! मैंने इन्द्रियचोर विषयकषाय कुबुद्धि, मनकी उद्दण्डताएँ इन सारे वैरियोंको पार करके अपना कुछ लाभ उठा पाया है, यों वे अपनेको कृतार्थ समझते हैं।

ज्ञानीके ज्ञानानुभूतिमें ही कृतार्थताका अनुभव—तपस्या और ज्ञानार्जन का फल है आत्मज्ञान, और आत्मज्ञानमें बाधा करने वाली हैं इन्द्रियां। ये इन्द्रियां, ये विषयकषायोंके परिणाम ज्ञानको न बिगाड़ दें और यह जीव अपने स्वरूपमें लीन हो जाय तब वह साधु अपनेको कृतार्थ मानता है। जैसे कोई बालक सालभर पढे और अन्तमें फैल हो जाय तो यह यही समझता है कि साल व्यर्थ गया। फल तो नहीं मिला। ऐसे ही तप व्रतकी सब साधनाएँ कीं और ज्ञानानुभूतिरूप फल न मिला तो वह साधु समझता है कि व्यर्थ गया। कोई फल तो नहीं मिला। साधुजनोंकी ऐसी अपने आपके हितके लिए दृष्टि होती है।

> दृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति ज्ञानावलेपादमुं,
> मोपेक्षस्व जगत्त्रयैकडमर निःशेषयाऽऽशाविषम्।
> पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते वाडवः,
> क्रोडीभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्तिः कुतः॥२३०॥

ज्ञानमदमें असावधानी—कुछ ज्ञान पाया तो उस ज्ञानके गर्वमें ऐसा न सोचना कि मैंने तो पदार्थोंके स्वरूपका और श्रुतसिद्धान्तका भली प्रकार ज्ञान पा लिया है। अब मेरेको कोई कुछ विघ्न कर ही नहीं सकता। मैं

तो कृतार्थ हो गया, उत्कृष्टता पा ली, अब मेरा और कोई क्या विघ्न करेगा, ऐसा न सोचना अर्थात् आशारूपी शत्रुको तू अल्प न गिनना। शत्रु छोटा भी कहीं रह जाय तो नीतिकार कहते हैं कि वह उसके अनर्थके लिए हो सकता है। तीन लोकका एक अद्वितीय बरी महान् भय उत्पन्न करने वाला आशारूपी शत्रु है। इस आशारूपी शत्रुको सब प्रकारसे दूर ही करना चाहिए।

शत्रुके अंशसे भी हानिका दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादन—देखो जिसमें अगाध जल पड़ा हुआ है ऐसे महान् समुद्रको बड़वानल सुखा देता है। समुद्रमें स्वयं कुछ जलकी ही किसी स्थितिके कारण ज्वाला बन जाती है, बड़वानल बन जाता है वह समुद्रको सुखा देता है। समुद्रमें कितना अगाध जल है, कितना बड़ा विस्तार है और बड़वानल उसमें किसी भागमें ही उत्पन्न हो जाता है, किन्तु वह भी समस्त समुद्रका विनाश कर देता है। ऐसे ही कितना ही ज्ञान हो, कितने ही गुण हों किन्तु एक इच्छारूपी विकार थोड़ा भी रहा हो तो वह इसे पूर्ण बाधित कर सकता है। इसलिए जो किसी शत्रुको दबाये रहे उसको शान्ति कहाँसे होगी? जिनके रच भी शत्रु नहीं हैं उनको ही निर्बाध समझिये। तो यहा विभाव, इच्छा, विकार ये सब शत्रु हैं। इनसे जैसे रहितपना हो सके वैसा ही उद्यम करना चाहिए। लाख बातकी बात यही निश्चय उर लाओ। 'तोड़ सकल जग दंदफंद निज आतम ध्यावो।'

क्रोडीकृत शत्रुकी भयकरता—इस आत्मध्यानमें बाधक हैं ये सर्व इच्छायें। कोई अपनी ही गोदमें शत्रुको खिलाये, पाले पोसे तो वह अनर्थ अपने आप स्वयं अपना कर रहा है। ऐसे ही अपनी गोदमें अर्थात् आत्मप्रदेशोंमें जो इच्छा बन रही है और इच्छाका पोषण किया जा रहा है वह अपने आप अपने शत्रुका पोषण है, वह इसही का स्वयंका अनर्थ करेगा। देखो समुद्र बड़ा गम्भीर होता है। जहाँ देखो वहाँ पानी ही पानी नजर आता है। वह समुद्र अगाध है, प्रचुर जल समूह वाला है और दावानल तो किसी जगह कुछ थोडेसे भागमें रहता है फिर भी सारे समुद्रके जलको यह बड़वानल सुखा देता है। ऐसी ही आशा प्रतीक्षा ममता ये सब इस आत्मप्रदेशमें कहीं पडे हैं और वह बड़ा ज्ञानी भी हो, तपश्चरण भी करता हो, बडे संयम आदिक गुणोंमें भी प्रयत्नशील रहता हो तो भी वह यह न समझ पायेगा कि ये मेरेको कुछ विघ्न डालेंगे। ये विकार आशा इच्छा मेरा क्या बिगाड़ कर लेंगे, ऐसा विचार न करो। बड़वानलने जैसे समुद्रको सोक लिया, ऐसे ही ये विकार, ये आशायें, ये इच्छाएँ इस ज्ञान-

समुद्रको सोख डालेंगी। इससे आप तब तक भेदविज्ञान करते रहें जब तक यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपसे प्रस्फुटित न हो जाय।

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचरित्रान्वितोपि न श्लाघ्य'।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥२३१॥

स्नेहानुबद्धताका दुष्परिणाम—जैसे दीपक स्नेहके सम्बन्धसे सहित है ना, स्नेह मायने तैल। दीपकमें स्नेह डाला जाता है जो मिट्टीके तेलके या सरसोंके तेलके दीपक जलाये जाते हैं उनमें। तो उस दीपकका हृदय दीपकका सर्वस्व उस स्नेहसे बधा हुआ है। स्नेह मायने तैल और स्नेह मायने प्रेम, राग, मोह। तो जैसे स्नेहसे जिसका सब कुछ हृदय बँधा हुआ है वह दीप जहाँ कुछ प्रकाशका भी काम करता है वहाँ एक काजलको भी प्रकट करता है, बनाता है। इसी तरह ज्ञान, चारित्र संयम सब कुछ भी हैं, पर किसी स्नेहसे हृदय बधा हुआ हो तो वह भी उस दीपककी तरह प्रशंसनीय नहीं है। ये सभी शुभरागबद्ध आचरणरूपी दीपक स्नेहरूपी तैलसे सहित हैं। यह शुभोपयोगमें रागका सम्बन्ध है तो यह भी पापरूपी कलंकको उत्पन्न करता है। जिस तपस्याके साथ राग भी बसा हुआ रहता है, रागका जितना काम है वह इतना काम करेगा ही, इस कारण तू शरीरादिकका स्नेह तज दे और देख ऐसी भी तो अग्नि होती है जो तैलके बिना भी जाज्वल्यमान होती है और काजल नहीं छोड़ती। इसी प्रकार ऐसे भी आचरण हैं जो रागके बिना केवल एक वीतराग भावपर आधारित हैं। वे चेष्टाएँ पाप कलक नहीं उत्पन्न करतीं, इस कारण जैसे वीतराग भावकी वृत्ति बने वैसा ही उद्यम करना योग्य है।

समूल मोहविनाशका अनुरोध—हे मुने ! रागकी कणिकामात्र भी तुझे रखने योग्य नहीं है। तू रागद्वेष रहित ज्ञानानन्दस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वको देख और इस अपने शुद्ध प्रतिभास मात्र स्वरूपका अनुभव करके अत प्रसन्न रह। तेरा शरण तेरे स्वरूपकी ही दृष्टि है। अन्य पदार्थों पर गया हुआ उपयोग स्नेह राग मोह ये सब शरण नहीं हैं, बल्कि अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं। इन सबका तू सर्व प्रकारसे परित्याग कर। कोई पुरुष जैसे यह सोचे कि हम हैं और हमारी स्त्री है और कोई अलावला हमारे पास नहीं है, पाँच सात सौ रुपये महीना आजीविकाके भी अपने आप लगे हैं, किरायेदार लोग दे जाते हैं, न हम किसी को सताते हैं, न अन्याय करते हैं, हमसे किसीसे कुछ मतलब ही नहीं है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन सबसे दूर हैं और मोह भी देखो तो केवल एक स्त्री भरसे है और दुनियाके अनन्त जीव इन सबका मोह छूटा हुआ है, तो क्या आप

इसे निर्मोह कहेंगे ? अरे सब जीवोंका तो मोह छूट गया, केवल एक स्त्री पुरसे रह गया तो चाहे एक जीवसे मोह रहे और चाहे दुनियाके कितने ही जीवोंसे मोह रहे, वह तो मोह ही है। एक बात और भी है। एकका मोह रहे तो वह कठिन मोह है, तीव्र मोह है और वह मोह आपका हजारों आदमियोंमें बट जाय तो आपका मोह शिथिल हो जायेगा। तो एकके सम्बन्धका भी मोह न रहना चाहिए। वह भी पूरा आवरण है। सर्वप्रकार मोहसे विश्राम लेकर निर्मोह स्थिति बनाना जरूरी है। अपने आपको निर्भार ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभव करके तृप्त तो हो लें। इतनी बात यदि बन सकी तो धर्मपालन किया समझिये और अपने को कृतार्थ हुआ समझिये।

रतेररतिमायातः पुनारतिमुपागतः।
तृतीय पदमप्राप्य बालिशो वत सीदसि ॥२३२॥

रति अरतिके परिवर्तन करते रहनेका क्लेश—हे जीव! तू अज्ञानी होता हुआ इस लोकमें दुःख पा रहा है, उसका कारण यह है कि तू दो ही काम कर रहा है। किसीसे राग किया उसके बाद अब उसमें अरति हो गयी। रति चल रही थी फिर बदलकर अरति हो गयी। घरका धंधा ऐसा ही तो है। घरके लोगोंसे थोड़ी देरमें प्रेम बढ़ गया, थोड़ी देरमें अनबन हो गयी, फिर वह अनबन बनी रहे ऐसा भी नहीं है, अनबन मिट कर फिर प्रेम हो गया। रतिके बाद अरतिको प्राप्त होता है और अरतिके बाद फिर वही चीजोंमें रतिको प्राप्त होता है। बड़ा विचित्र सम्बन्ध है कुटुम्बियोंका। न राग करते बनता, न द्वेष करते बनता। चलो किसीसे राग है सो राग ही राग बना रहे, ऐसा नहीं होता। थोड़ी देरमें द्वेष हो गया, फिर थोड़ी ही देरमें राग हो गया। यों रति और अरति ये ही दो काम करते हैं। जब रोटी खा चुके तब फिर झगड़ा शुरू हो गया। यह क्या है? यही एक बात नहीं, सभीमें लगा लो, उसीसे राग किया, उसी से द्वेष किया, फिर राग किया। यह जीव इसी प्रकार रति अरतिको बदल रहा है, पर रति अरतिसे भिन्न जो तीसरा पद है वीतरागभाव उसको न प्राप्त करके इस लोकमें व्यर्थ दुःखी हो रहा है।

तावद्दुःखाग्नितप्तात्मायःपिण्ड इव सीदसि।
निर्वासि निर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि ॥२३३॥

सांसारिक सुखसे संताप—जैसे लोहेका खूब तपा हुआ गोला हो तो उसका आताप कब बुझेगा जब बहुत अधिक पानी उसमें डालें और यदि दो चार बूँद ही पानी उसमें डालो तो वह पानी उसमें भस्म हो जाता है,

सोख जाता है। इससे अग्निका सताप नहीं बुझेगा। इसका सताप तो तब मिटेगा जब खूब टकी भर पानीमें डाला जायेगा। ऐसे ही दुःखरूपी अग्निकर तपे हुए इस जीवको शान्ति कब मिलेगी ? जब पूर्ण आनन्दका निधान मोक्ष पद मिलेगा और उसे देवपद मिल जाय, धन वैभव मिल जाय, अच्छे परिजन मिल जायें, इससे थोड़ा सुख हो गया, पर उससे शान्ति न मिलेगी। जैसे तपे हुए लोहेके गोलेपर थोड़ा-थोड़ा जल डालेंगे तो उससे उस अग्निका सताप न मिट जायेगा। इसी तरह इस जीवको जब सर्वकर्मोंसे मुक्ति हो, सर्वविकल्पोंका अभाव हो तब शान्ति मिलेगी।

सांसारिक सुखकी असारता—भैया ! यहां काहेका सुख ? ये सांसारिक सुख थोड़े दिनोंको मिले हुए हैं और काल्पनिक हैं, ये तो इस जीवके दुःख की ज्वालाको बढ़ाते हैं। ये शान्ति नहीं लेने देते। जैसे थोड़ा जल इस जलते हुए लोहेके गोले पर विलीन हो जाता है ऐसे ही यह रंचमात्र सुख क्षणभरमें विलीन हो जाता है। पता ही नहीं पड़ता कि वे सुखके दिन कैसे निकल गए। वे १०-२० वर्ष ऐसे निकल गए होंगे जैसे मानो कुछ ही घटों में निकल गए हों। इन सांसारिक अल्प सुखोंसे शान्ति न मिलेगी। भरपूर सुख तो है मोक्षमें, निराकुल दशामें। आत्माकी शुद्ध स्थितिमें प्राप्त हुआ आत्मीय आनन्द मिले तो उस सुखसे अतुल शान्ति प्राप्त होगी।

सांसारिक सुखमें टिकावका अभाव—ये सांसारिक सुख तो टिक नहीं सकते। जब बच्चे थे तब माकी गोदको ही सब सुख मानते थे, फिर जरा बड़े हुए तो गोद तो मिट गयी, खेल खिलौनोंमें सुख मानने लगे। और बड़े हुए तो खेल खिलौने मिट गए, कुछ विद्याभ्यास किया, उसमें सुख माना। जरा और बड़े हुए तो चाहे कुछ समझमें आये अथवा न आये, परीक्षामें पास होनेमें सुख माना। और बड़े हुए तो अब पास होने तक ही बात नहीं रही, अब डिग्री प्रिय हो गई। डिग्रीसे सुख माना। और बड़े हुए तो विवाह करके सुख माना। अब और सुख मिट गए। और बड़े हुए तो अब धनसे सुख माना। यह जीव किसी बातपर टिकता ही नहीं है। अब सब कुछ मिल गया तो अब उसे छोड़नेमें सुख माना, क्योंकि उसमें बहुत बहुत क्लेश मिले। तो ये सांसारिक सुख क्षणमात्रमें विलीन हो जाते हैं। यों दुःखोंसे तपा हुआ यह जीव है। इसे मुक्तिका भरपूर सुख प्राप्त हो तो इसे शान्ति प्राप्त हो सकती है। सांसारिक अल्प सुखोंसे इसे शान्ति नहीं मिल सकती।

मक्षु मोक्षं सुसम्यक्त्वसत्यङ्कारस्वसात्कृतम्।
ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन स्वकरे कुरु ॥२२४॥

रत्नत्रयसे मुक्तिलाभका विवेक—कहते हैं कि हे मुमुक्षु पुरुषो ! हे विशुद्ध आनन्दकी इच्छा करने वाले जनो ! तुम शीघ्र सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रकी पूर्णता रूप धनसे उस निर्वाणको अपने हाथमें करो। जब यह मुक्तिपद प्राप्त होगा तब ही तुम अपनेको कृतार्थ समझो। उससे पहिले ससारके किसी भी पदमें, किसी भी स्थितिमें अपनेको कृतार्थ मत मानो। क्या है ससारकी बात। आज उदय है, कुछ अच्छा दिख रहा है, कल पापका उदय होगा तो उसे सब बुरा ही बुरा दिखेगा। क्या है, आज है कल नहीं है। ये वैभव सम्पदा किसीके रखाये नहीं रहते हैं। जब तक रहना है रहते हैं, जब जाना है तब चले जायेंगे, एक साथ चले जायेंगे। यहांके समागमोंमें आनन्दका भ्रम मत करो। जैसे कोई लोग किसी इष्टवस्तुको धन आदिक आनकर उसे अपने हाथ कर लेते हैं, खरीद लेते हैं ऐसे ही तुम रत्नत्रयरूपी धनके द्वारा इस मोक्षपदार्थको अपने हाथमें कर लो तब ही तो वास्तवमें सुखी होंगे।

प्रियकी वैरिता—भैया ! यहाँ किसी ने प्रेम भरे शब्द कह कर सुखी किया तो वहाँ क्या किया गया ? आखिर वह बडे विशाद परिणामको लेकर नष्ट होगा। जिसे जो जितना रुचिकर मिला है वह उतना ही अधिक दुःखका कारण बनेगा। किसी को पुत्र बड़ा प्रिय है तो चूँकि वह अधिक प्रिय है सो वह अधिक ही दुःखका कारण बनेगा। कोई भी हो, जो भी अधिक प्रिय होगा वह उतना ही अधिक विपत्तिका कारण बनता है। पुराणोंके दृष्टान्त ले लो। बलभद्रको नारायणसे अधिक प्रीति होती है और नारायणको बलभद्रसे तो आखिर अन्तमें वह अधिक प्रीति दुःखको ही उत्पन्न करती है। लक्ष्मण भाईके वियोगमें श्रीरामकी क्या हालत हुई ? बलदेवके वियोगमें श्रीकृष्णकी क्या हालत हुई ? सब जानते हैं। अपनी ही बात देख लो, आपको जिनपर प्रेम था या आप पर जिनका भी वियोग हुआ है उस वियोगके समयमें आप ऐसा अनुभव १०-२० दिन तक करते ही थे कि मेरे लिये दुनिया अब सूनी है, कुछ है ही नहीं, कुछ नहीं सुहाता। यह विकट स्थिति क्यों होती है ? क्योंकि स्नेह अधिक था।

समागमोंमें विवेक—विवेकी पुरुष वह है जो समागमके कालमें भी स्नेहको बढ़ावा नहीं देता। उसका सही ज्ञाता बना रहे, यह सब अपनी-अपनी जिम्मेदारी की बात है। कोई यह समझे कि हमारा तो अभी पिता जिन्दा है, हमारी तो अभी मां भी जिन्दा है, हमें क्या फिकर, मौजसे हमें रहना चाहिए। हमारे तो ये ही शरण हैं। जो बात आयेगी आफतकी वह इन पर आयेगी। अरे चाहे वह १० वर्षका भी बालक हो और उसके

बच्चा, दद्दा, मामा सब कोई जीवित भी हों तो भी उस बच्चेकी जिम्मेदारी उस बच्चे पर ही है, दूसरे पर नहीं है। फिर अपनी-अपनी सब सोच लो। जो कर लेगा सो पायेगा। जो जैन शासनकी शरण लेकर अपने आपमें मार्ग बना लेगा उसीका भला है। बाकी तो सब कुछ नहीं है? चक्रवर्तीकी भी विभूति सदा नहीं रही, उनको भी अन्तमें तजना पड़ा था मर कर छोड़ना पड़ा, जो खुद अपनी इच्छासे तज गए उनकी तो सुगति हुई और जो अपनी इच्छासे नहीं तज सके उनकी दुर्गति हुई। बड़े पुरुषों की अच्छी गति होगी तो खूब अच्छी होगी और बुरी गति होगी तो खूब बुरी होगी। ऐसी ही कुछ पद्धति है। भैया! एक ही अपने चित्तमें कर्तव्य की बात लावो कि मुझे तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता करके अपने आपको निर्विकल्प केवल शुद्धविकास वाला बनाना है।

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्यां,
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकांक्षी ॥२३५॥

अविवेकी व विवेकियों द्वारा जगतकी भोग्यता व अभोग्यता—यह सारा जगत निवृत्तिकी दृष्टि बने तो यह अभोग्य जचता है और प्रवृत्तिकी दृष्टि रहे, ऐसा ही रागभाव रहे तो यह सारीकी सारी दुनिया भोग्य जचती है। 'तनकी भूख है तनिकसी, तीन पाव या सेर। मनकी भूख अपार है, लीलन चहत सुमेर ॥' कोई भूखा हो तो वह अधिकसे अधिक तीन पाव या सेर भर खा लेगा, पर इस मनकी भूख कैसी है कि यह मेरुपर्वतको भी लीलना चाहता है। खाना कुछ नहीं है, पड़ा रहना है सब सामने देखने को और मोहियोंकी व्यवस्थामें जरा नगरपालिकामें नाम दर्ज रहता है, इससे आगे और क्या होता है? कोई यह जड़ वैभव आपके आत्मामें स्थिरता पैदा करे, शान्ति पैदा करे, कुछ आनन्द उत्पन्न करे ऐसी यहाँ कुछ भी बात नहीं है। सारा जगत यह निवृत्तिकी दृष्टिसे अभोग्य है और प्रवृत्तिकी दृष्टिसे भोग्य है, किन्तु हे मोक्षकी अभिलाषा रखने वाले सत्पुरुषों! तुम अभोग्य और भोग्य सर्वप्रकारके विकल्पोंका परिहार करके एक मोक्षका ही अभ्यास करो। यह समस्त संसार अविवेकी जनोंको तो भोग्य लगता है और विवेकीजनों को अभोग्य लगता है।

भोग्यविकल्पका एक दृष्टान्त—एक ब्राह्मण अपनी कन्याकी शादीके खर्चके लिए राजाके पास गया। बोला—महाराज हमारी लड़कीकी शादी है सो कुछ खर्चके लिए पैसा चाहिए। राजा बोला अच्छा कल तू आना जो मागेगा सो मिल जायेगा। बड़ा खुश होकर ब्राह्मण घर गया। शाम को खाटपर लेट गया। खाट पर लेटे लेटे बहुत बातें सोचने में आती हैं।

सो उसने सोचा कि हो न हो राजासे हम १००) रुपये माग ले। उसकी दृष्टिमें १००) रुपये ही बहुत थे। फिर सोचा कि १००) तो अमुक पड़ोसी के पास भी हैं, वह तो सुखी नहीं, है १०० रुपयेसे क्या होगा, हजार रुपये मांग लेंगे, हजारपतियों पर दृष्टि दिया तो वहाँ पर भी सुख न नजर आया, लखपतियोंपर दृष्टि डाला। सोचा लाख रुपये मांग लेंगे। वहां भी सुख नजर न आया तो सोचा करोड़ रुपये मांगेंगे। फिर सोचा कि करोड़ रुपयोंसे क्या होगा? आधा राज्य मांग लेंगे। आधा राज्य मांग लिया तब भी लोग यही कहेंगे कि यह मांगा हुआ राज्य है। हम तो पूरा ही राज्य मांग लेंगे। यों सोचते-सोचते रात्रिके चार बज गए।

अभोग्य विकल्पका शेष दृष्टान्त—अब भजनका टाइम हो गया। वह भजनमें बैठा तो सोचने लगा कि राज्यमें तो बड़े बड़े कष्ट हैं, आधा ही राज्य ठीक है, फिर सोचा कि आधा राज्य भी नहीं ठीक है, करोड़ रुपये ही ठीक हैं। करोड़पतियोंके विषयमें सोचा कि वहां भी बड़े कष्ट हैं, जहां देखो वहां फोन लगे हैं। सड़ासमें अलग फोन लगा है, बैठकमें अलग लगा है, चौकेमें अलग फोन लगा है। करोड़पतियोंको तो बड़ा कष्ट है ऐसा समझकर कहा लाख ही ठीक हैं, इसी तरह हजारपतियोंके दुःखको देखकर कहा कि हम तो १००) ही मांगेंगे, जो पहिले सोचा था। इतनेमें निकला राजा, बोला— विप्रदेव मांगो जो मांगते हो। ब्राह्मण बोला महाराज जब तक मैंने आपसे कुछ मांगा नहीं तब तक तो नींद नहीं आयी और जब मांग लूँगा तो न जाने क्या हालत होगी? सो महाराज मुझे कुछ आपसे न चाहिए, जो मेरी स्थिति है वही ठीक है। सो जिसकी जो वर्तमान स्थिति है वही उसके लिए फिट बैठनेकी बात है।

निवृत्तिके अभ्यासकी प्रेरणा—सारा जगत अविवेकियोंको तो भोग्य जंचता है और विवेकियोंको अभोग्य जंचता है। हे साधु! हे मोक्षके इच्छुक पुरुषो! तुम सर्वविकल्प बुद्धिको तजकर निवृत्तिका, मोक्षका ही अभ्यास करो। देखा जैसे कहा करते हैं कि अमृतके दो एक बूंद भी सुखी कर देते हैं, ऐसे ही इन चौबीस घंटोंमें कुछ मिनट भी यदि इस निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र अन्तस्तत्त्वकी सुध बन जाय तो सारा दिन सुखमें बीतेगा। यह यथार्थ बात कही जा रही है। जिसे अपने इस सहजानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्वका दर्शन हो उसके प्रतापसे वह दिन भर सुखी रहेगा चाहे कुछ भी परिस्थिति सामने आवे। प्रथम तो भला ही भला सामने आयेगा क्योंकि भलेका स्मरण है। सो इन सब विकल्प भावोंको तजकर हे भव्य पुरुषो! एक इस निर्वाणका ही अभ्यास

करो। भेदविज्ञानकी भावना करो।

कल्याणकी बात--भैया! आत्माकी भलाईमें ही सुख है और सुख वही है जहाँ आकुलता न हो। आकुलता मोक्षमें नहीं है। तब इसी निर्व्याकुल मोक्षके मार्गमें लगना चाहिए। मोह ममताका जब तक उदय है तब तक इस जीवको तजने योग्य बात ग्रहण करने योग्य लग रही है। बाह्यपदार्थोंके लगावसे तो इस जीवको कुछ भी हित न मिल सकेगा। हित तो जीवका एक निजअन्तस्तत्त्वके लगावमें ही है। जहाँ यह भावना बनी कि मैं शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र हू, सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमें तन्मय ऐसा शाश्वत स्वतत्र पदार्थ हू, यह दृष्टि बनते ही सारा मोह भाव दूर हो जायेगा। निर्मलतामें ही मुक्तिमार्ग है, आनन्दका उपाय है। आनन्द इस अन्तस्तत्त्वकी ही प्रतीतिमें होता है। यह एक अपना पवित्र निर्णय बनाये रहो। बाह्य समागमोंसे कुछ भी कल्याण न होगा। मैं तो केवल अपने शुद्ध स्वरूपको देखूँ, उसमें ही रत रहू, इसमें ही कल्याण बसा हुआ है।

निवृत्ति भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावत।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥२३६॥

निवृत्तिकी भावना—जब तक किसी पदार्थसे भी निवृत होनेका काम पड़ा है अर्थात् पदार्थ निवृत्तिके योग्य हैं तब तक सदैव निवृत्तिकी भावना रखना चाहिए। किसी भी परपदार्थसे लगाव न रहे ऐसी अन्तरङ्ग भावना रखनी चाहिए। क्योंकि किसी भी परपदार्थका लगाव केवल क्लेश ही उत्पन्न करता है, हितका कुछ भी कारण नहीं बनता। कभी कोई शुभ सत्सग जो हितका कारण मालूम होता है उसका मतलब इतना ही है कि वह शुभ प्रसग बड़े अहितसे बचाता है। अहितसे बचानेमें तो सत्सग आदि प्रसग कारण पड़ता है, पर आत्माका जो हितमय भाव है उसमें कोई परपदार्थ कारण नहीं होता। वह तो स्वयकी पर्यायसे स्वयमें प्रकट होता है। इस कारण जब तक निवृत्त होने के योग्य कुछ काम पड़ा है तब तक हमें निवृत्तिकी भावना रखनी चाहिए।

हम सबको निवृत्तिकी भावनाकी आवश्यकता— निवृत्तिकी भावना सदैव रखनी चाहिए, इस योग्य स्थितिमें तो हम आप सब हैं, जब तक इस जीवके रागादिक परभावोंकी प्रवृत्ति है तब तक निवृत्तिका अभ्यास रखना। अपने-अपने प्रसंग निरख लो कितना रागद्वेषादिकका प्रसग लगा है, सन्तोष करो निवृत्तिमें सफलता मिलनेमें। प्रवृत्तिमें लगने पर सन्तोष मत करो। कुछ वैभवका संचय हो गया अथवा परिजन इष्टजन बड़े आज्ञाकारी और चाहने वाले हैं। ससारके जितने भी सुख हो सकते हैं वे सारे सुख

भी सामने आ जायें तो भी वे सन्तोष करने योग्य नहीं हैं क्योंकि ये सांसारिक सुख आकुलना किये बिना भोगे भी नहीं जाते। किस इन्द्रियका विषय ऐसा है जो शान्तिपूर्वक भोगा जाता हो? क्षोभ और आकुलता सहित इन्द्रियका विषय भोगा जाता है ये सब विनाशीक हैं। ये सताप उत्पन्न करने वाले हैं।

प्रवृत्तिमें सुख शान्तिका अभाव—भैया! इतनी जिन्दगी ५०-६० साल की घर पर व्यतीत हुई है पर बताओ कितनी आपको शान्ति है, कितना सुख है? जितना जीवन शेष रह गया है उसमें भी आप कभी यह न कह सकेंगे कि हमने अब शान्ति पायी, लाभ पाया, सुख पाया, बल्कि और उल्टा क्लेश बताओगे। इससे तो १० साल पहिले २० साल पहिले अच्छी स्थिति थी, आज तो बड़ी विपत्ति है यही और बतावेंगे। सारे जीवन भर आप अपने को बड़े बन्धनमें फसा हुआ अनुभव करेंगे। सुख और शान्ति पायी है ऐसी बात आप नहीं बता सकेंगे। तब यों निर्णय रहे ना कि यह साराका सारा दृश्यमान सब कुछ निवृत्तिके योग्य है, लगनेके योग्य, प्रवृत्त होने के योग्य यहाँ कुछ भी नहीं है।

अव्ययपद—जब पदार्थका अभाव हो जायेगा, परवस्तुके सम्बन्धसे रहित दशा होगी तो मुक्त होकर स्वय ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंसे छूट जायेगा। मुक्त अवस्थाको न संयम सहित माना, न असयमसहित। मुक्ति तो प्रवृत्ति और निवृत्तिसे रहित दशा है। जहाँ किसी भी प्रकारकी प्रवृत्ति सम्भव है वहाँ तक निवृत्तिका सम्बन्ध है और जहाँ किसी भी प्रकारकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिका कारणभूत कोई पिण्ड नहीं रहा तो वहाँ क्या प्रवृत्ति रहे और क्या निवृत्ति रहे। क्या कोई धर्म अधर्म, काल आदिक द्रव्योंको कहता है कि ये त्यागी हैं। अरे जब उनमें किसी प्रकारका संकल्प विकल्प ही नहीं है तो उन्हें त्यागी क्यों कहा जाय? जब प्रवृत्ति ही नहीं है तो निवृत्ति किसकी हो, बतावो? जहाँ अनाकुल अवस्था हो जाती है वहाँ शाश्वत शुद्धद्रव्यकी तरह पदार्थ शुद्ध हो जाता है। फिर जहाँ न प्रवृत्ति है और न निवृत्ति है वह अव्यय पद है। विधि, विभाव और विग्रह तीनोंसे रहित जो स्थिति है वही अव्यय पद है।

प्रवृत्तिनिवृत्तिरहितता—जैसे कोई रोग हो जाय तो जब तक रोग है तब तक औषधिका सेवन करना चाहिए। जब रोगका भी अभाव हो जाय फिर औषधिसे क्या प्रयोजन रहा? ऐसे ही जब तक प्रवृत्ति है तब तक उसके दूर करने के अर्थ निवृत्तिका अभ्यास है। जब पदार्थ छूट जायेगा,

पदार्थसे निवृत्ति मिल जायेगी फिर वह पद निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनोंसे रहित है। यह अवस्था जीवके सहजविश्रामकी अवस्था है।

जीवके चिरवासके स्थान--चिरकाल तक रहे जाने के ये दो ही स्थान हैं—एक निगोद अवस्था और एक सिद्ध अवस्था। निगोदमें शुरुवातकी सीमा नहीं है और सिद्धके भविष्यकी सीमा नहीं है। ये दो घर हैं। अब जीवको जो घर सुहाये उसमें जानेका रहनेका श्रम करे। बाकी स्थितियां तो थोड़े-थोड़े समयकी हैं। एक निवृत्तिका ही स्थान कल्याणसे परिपूर्ण है और सर्वसिद्धिमय है। अपने आपमें इस सिद्धिकी भावना रखना चाहिए।

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च बाह्यार्थसम्बद्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत् ॥२३७॥

राग द्वेषके परित्यागका उपदेश--राग और द्वेष ये ही तो प्रवृत्ति हैं और राग द्वेषका निषेध परिहार यही निवृत्ति है। बाह्य क्रियाओं पर प्रवृत्ति का यहाँ अर्थ नहीं लगाना है। अन्तरङ्गमें राग तरंग उठे यही आत्माकी प्रवृत्ति हुई और राग तरंगका परिहार होना यही निवृत्ति हुई और ये दोनों राग और द्वेष बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध रखते हैं इस कारण बाह्य पदार्थोंका भी परित्याग करें और राग द्वेषका भी परिहार कर।

सहजविश्रामका महत्त्व—भैया! जो आनन्द एक सहजविश्राममें प्राप्त होता है वह आनन्द अन्यत्र कहीं नहीं है। किसी भी संयोगमें, समागममें, किसी भी प्रसंगमें वह आनन्द नहीं है। जो खुदका भाव किसी समय परके विकल्पसे हटकर सहज विश्रामरूप बन जाय वहाँ ही वास्तविक आनन्द है, रागभरी प्रवृत्तिमें आनन्द कभी नहीं होता। यह मोही जीव मानता है प्रवृत्तिमें आनन्द, पर रागभरी प्रवृत्तिमें रागभरी चेष्टाके अभिप्रायमें आनन्द कभी नहीं होता, बल्कि क्षोभ ही मचा रहता है। आनन्दका नाम नहीं है, इस रहस्यको ज्ञानीजन जानते हैं, अज्ञानी नहीं जानते। ये राग और द्वेष जो दुःखस्वरूप हैं, दुःखसे होते हैं, दुःखके कारण हैं, ये किसी न किसी बाह्य पदार्थका आश्रय करके होते हैं; इस कारण इन बाह्य पदार्थोंको छोड़ो।

बाह्य अर्थके परिहारका समर्थन--बारह तपोंमें एक विविक्त शय्यासन नामका तप है। एकान्तनिवास केवल जहाँ यही है, दूसरा देखनेको नहीं, बालनेको नहीं, वहाँका रहना एक बड़ा तप है। उपवासकी तरह, अन्य कायक्लेशोंकी तरह यह भी एक तप है, क्योंकि वहाँ कोई बाह्य पदार्थ सामने नहीं है, कोई परिजन अथवा कोई मनुष्य सामने नहीं है, ऐसे

एकान्त स्थानमें रहनेसे सहजविश्राम होता है और उस सहज पदार्थमें जो विशुद्ध आनन्द जगता है वैसा आनन्द हजारों मनुष्योंके बोच बडे समारोह प्रशंसा आदिक अनेक चेष्टायें हों वहाँ भी वह आनन्द नहीं है। क्यों कि बाह्यपदार्थोंका आश्रय करके वीतरागता नहीं होती, रागद्वेष ही होता है। रागद्वेषका ही नाम प्रवृत्ति है, संसार है। क्लेशका साधन, है स्वयं क्लेश है। उसको त्यागें और उसके आश्रयका भी परित्याग करें।

ज्ञानबल द्वारा रागपरिहार व रागके आश्रयभूत अर्थका परिहार—रागादिककी प्रवृत्तिका निमित्तकारण तो द्रव्यकर्म है तथा आश्रयभूत कारण परपदार्थोंका सम्बन्ध है। यहां इतनी बात समझनी है कि रागका उपादान कारण तो यह अशुद्ध जीव है और निमित्त कारण उस प्रकारकी कर्मप्रकृतिका उदय है और आश्रयभूत कारण ये रूप, रस, गंध, स्पर्श पुद्गल स्कंध हैं, तो कर्मप्रकृतियोंपर तो हम क्या शक्ति अजमायें, क्या परित्याग करें, किसे हटायें, वह तो प्रतिघातरहित है। अब रही शेष दो बातें। सो आपका व्यवहार या जो किया जा सकता है वह यह बतलाता है कि हाँ इन दो बातों पर हमारा वश है। आश्रयभूत बाह्य पदार्थोंको अलग कर दे और रागादिक भावोंको भी न आने दे, यह सब होगा ज्ञानबलसे। भीतरमें अज्ञान बसा हो तो कायरता बनती है और ज्ञानबल पड़ा हो तो शूरता आती है, कायरता नहीं आती। आत्माकी कायरता है विषय और कषायके परिणमन होने लगना और आत्माकी शूरता है केवल एक निज सहजस्वभावकी रुचिसे, इसके ही उपयोगसे परिणमन बना रहना। यही है आत्माकी शूरता। हाँ तो इन दो तत्त्वोंसे हम न्यारे हो सकते हैं। रागद्वेषके साधनोंका परित्याग करें और रागद्वेष को भी दूर करें, यह होगा ज्ञानभावनासे और ज्ञानभावना होने पर ये द्रव्यकर्म भी अपने आप खिर जायेंगे। इसमें भी बहुतसी शिथिलताएँ हो जायेंगी। हमारा तो काम एक ज्ञानबल बढ़ानेका होना चाहिए और आश्रयभूत परपदार्थोंसे दूर रहनेका यत्न रखना चाहिए। फिर जैसे कल्याण होना है वैसी विधि बनती ही चली जायेगी।

भावयामि भवावर्ते भावना· प्रागभाविता·।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावना ॥२३८॥

भावनाका करतब—मैं इस भवावर्तमें इन भवोंके अभावके लिए ऐसी भावना भाऊँ जो पहिले कभी नहीं भायी और उन भावनाओंको मैं न भाऊँ जिनको अब तक भाते आये हैं। इस मोही जीवका अथवा जिसका संस्कार अब तक बाह्य विषयोंमें पड़ा हुआ है ऐसे जीवकी ज्ञानभावना

दुष्कर मालूम होती है और जो कठिन बात है, आत्माकी बात नहीं है ऐसे परके रूचय, प्रसग, गड़बड़ी—ये सब सुगम मालूम हो रहे हैं। इस जीवने अब तक केवल भावना भानेका ही काम किया, अन्य कोई काम नहीं किया। शरीर भी इसे मिला तो सहज स्वयं मिल गया निमित्त पाकर पर इस जीवका कुछ वश नहीं है कि शरीरमें अपना अधिकार बनाये। यह बात न कभी हो सकती है और न होगी। जीव तो एक भावना करता है और भावना पर ही ये सारी सृष्टि बनी कैसे? एक बार ब्रह्ममें ऐसी तरंग उठी कि एकोऽहं बहु स्याम्। मैं एक हूं और बहुत हो जाऊँ, सो ये बहुत बन गए। यह सारी सृष्टि बन गयी। जरा इसका मर्म तो देखो। प्रत्येक जीव स्वभावत. निश्चयसे एकरूप है। स्वभावमें क्या अन्तर? हम और आप बिल्कुल एक समान हैं, रच भी तो अन्तर नहीं। द्रव्यदृष्टि लगायें। जो सत्त्व है, सहज स्वरूप है उसकी दृष्टिसे हममें और आपमें क्या अन्तर है? किसी भी जीवमें देखो तब हम एक हो हुए ना। व्यक्तिगत भी एक है, स्वभावत भी एक है। अब इसमें विकल्प हुआ नानागत हुआ सो नाना बन गया। जिस भवमें पहुचा उस भवमें अपनेको उसरूप माना। मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक, देव आदि नाना रूप अपनेको माना। मूलमें जो एक रूप है उसको भूल गया और ये सारी सृष्टिया होने लगीं। तो अब तक क्या किया? ऐसी वासना, ऐसी भावना बनायी जिसके फल में इस जीवको संसारमें रुलना पड़ा।

भावितभावना व अभावितभावना—अब ससारभ्रमणका अभाव करने के लिए अब तक की आयी हुई भावनाको तो अब न भाऊँ और जो आनन्दरूपी भावना है ऐसी अपूर्व भावनाको भाऊँ। विषय कषाय रागद्वेष इनको बढ़ाने वाले, इनका सम्बन्ध रखने वाले विचारोंको अब न भाऊँ और केवल शुद्ध निज सत्त्वमात्र जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसकी निरन्तर भावना भाऊँ, यही कल्याणका उपाय है। ये सब समागम कोई भी हमारे कल्याणके साधक नहीं हैं। साधक क्या, प्रत्युत बाधक हैं।

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदु खे च षट्त्रयम्।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम्॥२३६॥

हिताहित भाव—शुभभाव व अशुभभाव, पुण्य और पाप, सुख और दुःख ये ६ हैं ना और तीनों युगल हैं। इन तीन युगलोंमें आदिका एक-एक तो हितरूप है, अनुष्ठानके योग्य है और शेषके तीन अहित रूप हैं, त्याज्य हैं। शुभभाव पुण्य और सुख इन तीनको इस छन्दमें अनुष्ठान के योग्य कहा गया है। यद्यपि निश्चयसे ये छहोंके छहों निषेधके योग्य हैं।

इसको भी आगे के दोहेमें कहा जायेगा। किन्तु जीवकी जो वर्तमान परिस्थिति है उस परिस्थितिके अनुकूल सर्वप्रथम यह जीव हितके लिए किसी प्रकार कदम बढ़ाये और उसके फलमें क्या-क्या होता है ? यह प्राक् पदवीकी बात भी यदि प्रतिपाद्य है ना तो शुभभाव, दयाभाव, भक्ति भाव, गुणानुवाद, किसीके गुण देखकर खुश होना, ये सभी भाव अनुष्ठेय हैं, पालने के योग्य हैं और इनके फलमें पुण्यकर्मका बंध होता है। वह पुण्यकर्म भी ठीक है, इसके उदयकालमें निश्चिन्त होने के लिये सुविधा सुख मिलता है वह भी ठीक है।

हितयोग्य भावकी भी दुरुपयोगसे अहितरूपता— दुरुपयोग तो किसी का भी करलो। शक्कर मीठी होती है। अब उसकी चासनी बनावो और वहीं कड़ी बन जाय तो कड़ी बन जायेगी। दुरुपयोग किसी का भी कर लो। यों ही पुण्यकर्मका उदय आये तो वह अपना कल्याण करनेका एक अवसर है, लग सको तो लग लो क्योंकि जहाँ पापका उदय है, खाने का भी ठिकाना नहीं। घरके लोग भी परेशान हैं, सब भिखारी हैं, दरिद्री हैं और अन्य सब प्रसंग भी बहुत नीच प्रकृतिके हैं तो वहां कल्याणका अवसर कम है। इस दृष्टिसे पुण्य भी अनुष्ठेय है और उसके फलमें जो सुखके साधन बनते हैं वे भी अनुष्ठेय हैं, बाकी तीन अहितरूप हैं। यह एक व्यवहारकी बात कही जा रही है। सीधे अगला पैर रखना है ना और शक्ति है नहीं छलांग मारने की और मार रहे हैं छलांग तो गड्ढे में ही गिरते हैं ना ? सीधे चलते जायें और अगला मार्ग दृष्टिमें रखा जाय तो वह उचित है, शुद्धको लक्ष्यसे न भूलें और शुभसे अलग न हों, इस बातका स्मरण करानेके लिए इस छंदमें कहा है। ये तीन अनुष्ठेय हैं और अन्तके तीन अहित रूप हैं।

तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥२४०॥

हिताहितभाव विवरण—जीवका उपयोग दो प्रकारका होता है—एक शुद्धोपयोग और दूसरा अशुद्धोपयोग। अशुद्धोपयोग दो तरहका होता है एक शुभोपयोग और एक अशुभोपयोग। चूँकि अशुभमें रागद्वेष मिला हुआ है अतएव वह अशुद्ध कहलाता है, ऐसे ही शुभोपयोगमें भी राग पड़ा हुआ है इस कारण उसे भी अशुद्ध कहते हैं। तो उपयोग तीन तरह के हुए, अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। इनमें शुभ और अशुभ ये दो तो विषमताके कारण है। शुभसे पुण्य होता है, अशुभसे पाप होता है और पुण्यसे सांसारिक सुख होता है और पापसे दुःख होता है।

तो ये तीन जोड़े हुए--शुभ अशुभ, पुण्य पाप तथा सुख दु ख। इनमें से शुभ अशुभमें शुभ भाव, पुण्य पापमें पुण्य तथा सुख दु खमें सुख-ये तीन लोगोंको प्रिय हैं। विवेकी भी विवेक करके इनका आदर करते हैं मुकाबिले अशुभ, पाप और दु खके। किन्तु ये छहोंके छहों छूटें तब ही आत्माका विशुद्ध विकास होगा। जहां न शुभ रहता है, न अशुभ रहता है, न पुण्य रहता है, न पाप रहता है, न सुख रहता है, न दुःख रहता है, ऐसी अवस्था है निवृत्तिकी अवस्था। वही अवस्था यही अवस्था वास्तविक उपादेय है।

अहितपरिहारपद्धति—अब यह ससारदशा छूटे किस प्रकार ? इस पर चिन्तन करिये। सर्वप्रथम तो अशुभ छूटना चाहिए, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह। मोह ममता ये कलुषित परिणाम पहिले छूटना चाहिए और इन अशुभ परिणाम छूटनेके पश्चात् जो शुभमें प्रवृत्ति होती है वह शुभ प्रवृत्ति भी कब तक रह सकेगी ? शुभ और अशुभ ये दोनों नम्बरवार अदल बदलकर चलते रहें तो इन दोनोंका जीवन लम्बा हो जाता है। खूब अशुभ रहें और खूब शुभ रहें, तो इनका विनाश नहीं हो सकता, लेकिन अशुभ तो बिल्कुल होने न दे और शुभको ही रहने दे तो यह शुभ भी जीवित नहीं रह सकता। जैसे जो मदिर मानते हैं उनका तो मन्दिरके आधारसे धर्म टिका हुआ है, और वह समूह परम्परासे बराबर धर्ममें चला आ रहा है। तो व्यवहारमें धर्मकी परम्पराको चलाने वाले आश्रय हैं ये मन्दिर। जो मन्दिर नहीं मानते, मूर्तिको नहीं मानते उनकी भी परम्परा चलाने वाले हैं ये मन्दिर। कोई इन मन्दिरोंका समर्थन करके अपनी धर्म परम्परा बनाये हैं तो जो मन्दिर नहीं मानते उनके भी धर्मकी रक्षा करने वाले ये मन्दिर हैं। मान लो कोई एक भी मन्दिर न रहे, तो जिनके उद्देश्यमें मन्दिरका निषेध है फिर वे क्या निषेध करेंगे, फिर तो उनका धर्म टिकेगा कैसे ? ऐसे ही यहाँ समझिये कि शुभोपयोगसे भी संसारमें चिरकाल तक रहना हो तो उसके बीच-बीच अशुभोपयोग आता रहना चाहिए, नहीं तो यह शुभोपयोग भी बहुत काल तक टिक नहीं सकेगा। जिन्होंने इस अशुभोपयोगका परित्याग किया है उनका कुछ ही समय पश्चात् शुभोपयोग भी छूट जाता है, शुभोपयोगके छूटनेसे और अशुभोपयोगके छूटनेसे पुण्यपाप भी समाप्त होंगे और सासारिक सुख दुःख भी समाप्त होंगे। तो अन्तमें शुद्धमें स्थित होकर यह जीव परमपदको प्राप्त कर लेता है।

अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवै—
स्ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।

मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्,
सम्यक्त्वव्रतदक्षताऽकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते ॥२४१॥

आत्माका अस्तित्व—कोई पुरुष ऐसी आशका करे कि आत्मा कुछ हो तो उसके परमपदका विचार करें, जब आत्मा ही कुछ नहीं है तो परमपद कैसे हो ? किसीने इस आत्माको गर्भसे लेकर और अन्तिम जीवन तक कभी देखा भी है क्या ? यदि आत्मा हो तो दृष्टिमें आये। आत्मा तो है ही नहीं, तो फिर कैसे उसके परमपदकी बात कहना युक्त है ? ऐसी आशका के समाधानके लिए मानो यह छंद कहा गया है। आत्माकी कुछ सिद्धिसे पहिले इतना तो हम आप भी अनुभव रखते होंगे कि जब यह उपयोग यह ज्ञान बाह्यपदार्थोंका उपयोग नहीं रखता, प्रभुके भजनमे अथवा आत्मचिन्तनमे अथवा एक ज्ञानबलसे सहज विश्राममे हो जाय तब अद्भुत आनन्द होता है, और यह स्पष्ट मालूम होता है कि यह आत्मा ज्ञानस्वरूप वास्तविक सत् है।

आस्तिक और नास्तिक—जो वास्तविक सत्को मना करे उसे कहते हैं नास्तिक और जो इस सारतत्त्वकी हा करे उसे कहते है आस्तिक। और नास्तिक शब्दमें यही अर्थ पड़ा है कि अस्ति है, उसे न माने सो है नास्तिक। इस परिभाषाका अर्थ यह नहीं निकलता है कि जो हमारे शास्त्र को न माने सो नास्तिक और जो माने सो आस्तिक। हमारे वेदको जो माने सो आस्तिक, न माने सो नास्तिक, हमारे कुरानको जो न माने सो नास्तिक और जो माने सो आस्तिक—यह इसका अर्थ नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय तो वह तो उस पर जबरदस्ती थोपी जा रही है। बात यह है कि जो पदार्थ है, जो पदार्थ जैसा है जीव आदि उसे वैसा मानले तो उस का नाम आस्तिक है और इस आस्तिकमे जो माना गया है वैसा ही किसी शास्त्रमे हो तो क्या करे ? वह तो अपने आप मन गया। वस्तुके अस्तित्व के ज्ञानकी अपेक्षा न करके सीधा अपना अभिमत मढ देवे तो आस्तिक नास्तिककी परिभाषा ठीक नहीं है। तो ऐसी ही आस्तिककी परिभाषा मन में रखकर इस छंदमें बताया जा रहा है कि आत्मा है और वह अनादि कालसे बन्धनको प्राप्त है।

अनादिबद्धता—रागादिक विभावोंका जो बन्धन लगा है वह बन्धन अकारणक नहीं हो सकता, क्योंकि जो चीज घटती है, बढ़ती है और अपने आपके विनाशके लिए होती है वह तत्त्व अकारणक नहीं होता। वस्तुका स्वभाव उसी वस्तुका अहित करनेमें नाश करने मे उद्यमी हो ऐसा कहीं देखा है। स्वभाव स्वभाववानके विनाशके लिए नहीं होता। वह

तो स्वभावके अस्तित्व रखनेके लिए होता है। क्या ये रागादिक आत्मा का अस्तित्व रखने के लिए हैं या अहित करनेके लिए हैं? ये रागादिक विभाव जीवको दु खी करनेके लिए हैं व कहीं टिकते भी नहीं तो ये अहेतुक नहीं हो सकते। इसमें कोई उपाधि कारण है और क्यों जी यह उपाधि किसी जीवमें समूहमें अपने आपमें अलनटप्प किसीसे लग बैठे, क्या ऐसा हो सकता है? जो भी जगतमें कार्य होते हैं वे उपादान निमित्त कारण पूर्वक होते हैं। ये कर्मोंकी उपाधियां जो कि विभावोंके कारणभूत हैं ये भी अलनटप्प न लगें, यह भी सकारणक है और इसका कारण है रागादिक विभाव। तो ऐसा सोचते जाओ। रागादिक भावोंका कारण है पूर्वकर्म। उन पूर्व कर्मोंका कारण हैं पूर्व विभाव। बस कहते जाइये। एक जिन्दगी नहीं अनन्त जिन्दगी लगातार आपको कहने लायक मिलें तो भी सब भवोंको आप कह डालेंगे क्या? तो निष्कर्ष यही निकला कि अनादिकाल से यह आत्मा बन्धनको प्राप्त है। भैया! अनादिताकी बात यहाँ ही देख लो। कोई एक बालक है, वह बालक किसी पितासे उत्पन्न हुआ ना और वह पिता अपने पितासे उत्पन्न हुआ। और वह भी अपने पितासे उत्पन्न हुआ। कहते जावो, कोई भी पिता ऐसा न मिलेगा जो अपने पितासे न उत्पन्न हुआ हो। क्या कोई पिता ऐसा भी होगा जो आकाश आदिक से टपक पड़ा हो? ऐसा तो नहीं है, तब यही तो निष्कर्ष निकला ना कि यह पिताओं की परम्परा अनादिसे है। उसकी भी आदि नहीं है।

बन्धनका मूल खुदकी करनी—यह आत्मा अनादिसे बन्धनको प्राप्त है और यह बन्धन क्यों हुआ? आस्रवके द्वारा। आस्रव हुए द्रव्यकर्म—आये और उनका उदय पाकर आत्मामें यह रागादिकका बन्धन हुआ और ये आस्रव कैसे हुए? कर्म कैसे हुए? ये क्रोधादिक कषायोंसे हुए। जो जैसा करता है वह वैसा भरेगा। यह प्राय ९९ प्रतिशत निर्णीत बात है। एक प्रतिशत यों मान लीजिये कि कोई विरला ज्ञानी प्राणी सम्यग्ज्ञानदृष्टिके बल से उन कर्मोंको संक्रान्त करके अन्यरूप परिणमा कर यों ही विफल कर दे तो हो सकता है, किन्तु ऐसे जीव १ प्रतिशत क्या, हजार, लाख, करोड़में असंख्यातमें भी एक नहीं बल्कि अनन्तमें एक होता है। तब यही बात एक प्रकट रूपसे हुई ना कि जो जैसा करेगा तैसा भरेगा।

आत्मसावधानीकी आवश्यकता—भैया! अब सोचो—कितना सावधान रहना चाहिए अपने को? किसी जीवका अहित न विचारमें आये। किसी जीवसे मात्सर्य न उत्पन्न हो, किसी जीवमें तुच्छताका भाव न उत्पन्न हो, घृणाका भाव न उत्पन्न हो, किसीको सताकर अन्याय करके

कोई अपने विषय साधनोंके योग्य सिद्धि करनेका अभिप्राय न जगे। सीधा सच्चा, न्यायपूर्ण, सच्चाई सहित जीवन गुजर जाय और यह जीवन अधिकतर प्रभुभक्तिमें, तत्त्वचिन्तनमें, गुणी पुरुषोंकी सेवामें व्यतीत किया जाय, यह है अपनी सावधानी और भला भविष्य पानेका उपाय। किन्हीं जीवोंको खुश करके तुम क्या लाभ लूट लोगे? परजीवोंका संकोच करके तुम कौन सी रक्षा कर लोगे? अपने आपमें स्पष्ट विशुद्ध रहना चाहिए।

बंधका मूल निमित्त—ये द्रव्यकर्म क्रोधादिक का निमित्त पाकर बँध जाया करते हैं और ये क्रोधादिक प्रमादसे उत्पन्न हुए हैं। प्रमाद नाम है मुक्तिके मार्गमें उत्साह न जगनेका। इस प्रमादके कारण ये क्रोधादिक हुए हैं और ये प्रमाद और क्रोधादिक अव्रतसे हुए हैं, पापसे हुए हैं और ये सारे अव्रत पाप मिथ्यात्वसे उपचित हैं। मूलमें जीवके अज्ञान पड़ा है, मोह मिथ्यात्व पड़ा है तो उससे यह जीव मलिन है और इसीसे इसके सारी गंदगियां उत्पन्न हुआ करती हैं। कभी परिणाम सुधारे, काल आदिकके योग्य परिणति हो जाय तो सम्यक्त्व पैदा होना, शिवमय उत्कंठा प्राप्त होना, इन सब निर्मल परिणामोंके साधनसे यह जीव क्रमसे मुक्त हो जाता है।

विशेषणोंमें तत्त्वसमर्थकता—इन सब विशेषणोंमें कितने ही दर्शन आ गये। जो आत्मा नहीं मानते उनका खण्डन है, जो आत्माको स्वभावतः शुद्ध मानते हैं सर्वथा, उनका भी खण्डन है। जो बनावटी मुक्ति मानते हैं—हो जाय मुक्ति, चढ़ जाय कुछ काल तकके लिए। बादमें चिर काल तक मुक्तिका आनन्द भोगने के पश्चात् वह जीव फिर संसारमें जन्म मरण करता है— इत्यादि अनेक एकान्त आशयोंके खण्डनमें कितने ही शब्द इस छन्दमें आ गए, उनका खण्डन तत्त्वनिरूपणमें स्वयं हो जाता है।

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत्काशा तपःफले ॥२४२॥

परप्रीतिकी मलिनतामें तपके फलकी क्या आशा—ये मेरे हैं, मैं इनका हूं, इस प्रकारकी प्रीति इस जीवमें ईतिकी तरह अनादिसे लगी हुई है। ईति भीति कोई बड़ा रोग जंजाल हुआ करता है उसकी ही तरह यह प्रीति लगी हुई है जीवमें कि यह मेरा है, मैं इनका हू। एक वर्षके बच्चे के सामने भी, कोई दो एक महीनेका बच्चा हो उसके सामने भी यही बात है। कोई बड़ा कहे कि मैं इसे अपने घर लिए जा रहा हू तो वह बच्चा सारी शक्ति लगाकर रोकर विह्वल होता है। रोकता है हम नहीं ले जाने

देते और बड़ा होने पर बड़ी प्रीति होती है और बहुत बड़ा हो जाने पर कदाचित् किसीके आ जाय मनमें मैल तब पुरानी वह प्रीति न जाने कहां नदारत हो जाती है ? और लगी रहे आजन्म प्रीति, उसके हृदयमें बसा रहा करे तो आखिर अन्तमें तो वह दुःखका कारण होता ही है। उसके वियोगकाः दुःख सहना पड़ता है। यह मेरा है, मैं इसका हूं इस प्रकारकी प्रीति एक क्लेशको उत्पन्न करती हुई रहा करती है। यह प्रीति जब आत्मक्षेत्रमें घुल मिलकर अपना स्थान बनाये है। तब तपस्याके फलमें किसी सारकी क्या आशा रखी जाय ?

परमार्थ अन्तरतपके बिना बाह्य तपकी निष्फलता—कोई तपस्वी साधु तप तो बहुत करता है, बड़े उपवास करता है, अनेक प्रकारकी तपस्याएँ बहुत किये जा रहा है, पर भीतरमें यह बात पड़ी हो कि यह शरीर मेरा है, मैं इसका हूं, अथवा यह मैं मुनि हूं शरीरको निरखकर, जैसे कि कोई छाती ठोककर कहते कि यह मैं हूं बड़ा। ऐसे ही शरीरको अपने आखोंकी दृष्टिसे ठोककर कोई कहे कि मैं मुनि हूं, मुझे ऐसा तप करना चाहिए, इससे सुख प्राप्त होता है, ऐसी भी जिसकी प्रीति है उसे उस तपस्यामें क्या मिलेगा ? मिल जायगा उतना फल जितना कि निदानमें मिल आया करता है। निदानका यह अर्थ नहीं है कि जो मुनि जो चाहे सो मिल जाय, तपस्या है उसकी बहुत ऊँची, साधना है उसकी बहुत ऊँची और चाह है उससे कमकी चीज तो वह चीज उसे मिल जायगी। और वह उस तपस्यासे अधिककी चीज मागे तो कैसे प्राप्त हो सकेगी ? तपस्या करके भी भीतरमें यह गाँठ पड़ी होती है तो उसका फल नहीं मिलता।

बाह्यचर्यामात्रसे अन्तरमें अन्तरका अभाव—एक गृहस्थ गृहस्थीमें रह रहा है और गृहस्थके योग्य चर्या कर रहा है। सुबह हुआ तो पूजन किया, दर्शन किये, स्वाध्याय किया, सत्संग किया, फिर घर गया भोजन किया, दूकान किया, चौबीसों घटेकी जो चर्या है वह करे और एक मुनि भी अपनी चौबीसों घटेकी चर्या करे— यह मैं मुनि हूं, मेरा काम सुबह पाठ करनेका, सामायिक करनेका, कुछ उपदेश देनेका और कुछ गृहस्थोंसे अपनी पूजा भक्ति करनेका है, सारी चर्यायें सोच लें तो अब देखिये— उनमें समितिपूर्वक प्रयोजनके सब काम करते हुए साधुमें और घरकी चर्या करते हुए गृहस्थमें इन दोनोंके भीतरमें कौनसा अन्तर आया ?

अन्तश्चरणका महत्त्व—जिसके अन्तरङ्गमें निजसहजचैतन्यस्वरूपकी प्रतीति हो चाहे वह गृहस्थ हो अथवा मुनि हो तब उसे संसारके बन्धनसे छूटनेका आयगा। जब तक शरीर आदिकमें यह मेरा है, मैं इसका हूं ऐसी

प्रतीति बनी हुई है तब तक तपस्याके फलकी कोई आशा न की जाय। कोई फल नहीं प्राप्त होता। इस कारण अधिक यत्न करके अपने आपको ऐसा अनुभवनेका यत्न करे कि मैं सबसे निराला केवल चैतन्य प्रतिभास मात्र हू।

मामन्यमन्यं मा मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
यान्योहमहमेवाहमन्योऽन्योऽयोहमस्मि न ॥२४३॥

भ्रान्तिके क्लेश व उनके मेटनेका उपाय सम्यग्ज्ञान—मैं अपनेको अन्य और अन्यको यह मैं, ऐसा मानकर भ्रान्तिसे इस ससार-समुद्रमे भटकता रहा। अब यह पहिचाना कि अन्य मैं नहीं हू, मैं मैं ही हू, अन्य अन्य ही हैं, ऐसा ज्ञानीपुरुष अपने आपमें चिन्तन कर रहा है। यद्यपि वस्तुगत यह स्वरूप ही है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही तन्मय हैं। किसी द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, सभी जुदे-जुदे हैं। मैं भी यद्यपि अनादिकालसे मिथ्यात्व रागादिकके सम्बंधसे कर्मविपाकवश अनेक विकल्प करता चला आया। शरीरमें एकताकी बुद्धि रक्खी। परपदार्थोंको अपना समझता रहा। इतने पर भी कोई पर मेरा न हो सका। न मैं किसी पररूप हो सका। कल्पनामें ही मानता रहा और उस कल्पना का ही मैं कर्ता रहा। किसी परका कर्ता अथवा स्वामी नहीं बन सका। और यों व्यर्थ ही इसी प्रकार दूसरोंको अपना माना और ससारमें भ्रमण करता रहा। अब यह पहिचान हुई कि सभी पदार्थ परस्पर अत्यन्त जुदे हैं। यही परिचय, यही सज्ञान कल्याणका कारण होगा।

कठिन परीक्षण---भैया! कितनी तीव्रश्रद्धा चाहिए इस बातपर टिकने के लिए कि यह देह जुदा है और मैं जुदा हूं। कह लेना तो आसान है और चूँकि ऐसा कहनेसे भला जचता है सो दिलका बहलाना भी है किन्तु इसी प्रकारका प्रयोग बने कि देह जुदा और मैं जुदा हू, यह बात सम्यग्दृष्टि पुरुषके ही सम्भव है। सम्यग्दृष्टि कुछ जुदे लोग नहीं हैं। जैसा मेरा स्वरूप है तैसा ही उनका स्वरूप है। एक सत्यप्रकाश चाहिए। सत्यविज्ञान चाहिए, सम्यक्त्व हो जाता है।

निर्मूलमोह--मेरा है कहीं कुछ नहीं। कितना ही कुछ माना जाय, किसीको शान्ति विश्राम कहीं प्राप्त न हो सकेगा। शान्ति तो जितना केवल अपनेसे वास्ता रक्खे, अपनेको ही देखे, अपनेमें ही रत हो, स्वयसे ही केवल सम्पर्क रहे उस स्थितिमें तो विश्राम है, शान्ति है, बाहरमें कहीं शान्ति नहीं है। जगतके अनन्त जीव हैं, उनमेंसे कोई परिजन कोई भी जीव घरमें आ गया सतान या स्त्रीके रूपमे, या किसी अन्यके रूपमें, तो

यह बतावो कि उस जीवसे आपका कोई नाता है क्या, कोई वास्ता है क्या, किन्तु वह जीव ही प्रिय हो रहा है। कुछ वास्तविकता है क्या ? ऐसी यथार्थ बात समझमें आये और फिर सबको निभाये तो इसे कर्तव्यकी बात कह सकते हैं। जहाँ यह तत्त्व ही नहीं है, बस एकदम पूर्ण लगावके साथ ये मेरे ही हैं, ऐसा मानकर उनका पालन पोषण करें, उनकी उन्नति करें, ये सब बातें मोहमें गर्भित हैं।

मोहमे अलाभ—मोहमें रहकर किसीने कुछ लाभ उठा पाया हो तो बतावो ? किसीका पिता गुजर गया, किसीकी मां, किसीकी स्त्री, वह सोच सकता है कि उनके सम्बंधमें कितनी प्रीति थी, परस्परमें उनसे कितना तीव्र अनुराग था और बड़ा परस्पर मोह भी किया, पर उसके फलमें आज पासमें क्या रहा ? केवल एक कल्पना ही रह गयी। और कुछ ऐसासा लगता कि व्यर्थका श्रम करके मोहका रागका परिणाम करके उस अतीतकालमें व्यर्थ ही परिश्रम किया। लाभकी बात कुछ न रही। जो विवेक न रखेगा, समागमोंमें मोह रखेगा उसे नियमसे दुःख होगा। जो विवेक रखेगा उसे उस समय भी क्लेश न होगा और आगे भी क्लेश न होगा। वियोग होगा सभीका, पर ज्ञानी पुरुषको क्लेश नहीं और अज्ञानी पुरुषको सक्लेश होता है।

> बन्धो जन्मनि येन येन निविड निष्पादितो वस्तुना,
> बाह्यार्थैकरतेः पुरा परिणतप्रज्ञात्मन साम्प्रतम्
> तत्तत् तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो,
> दुर्बोध हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृत कौशलम् ॥२४४॥

परप्रीति ईति व उसका निवारण—जिस पुरुषके बाह्यपदार्थोंमें ही एक पूर्ण लगाव है, प्रीति है, मोह है उस पुरुषने पहिले जिस-जिस प्रयोगसे, जिस-जिस वस्तुके सम्बन्धसे बहुत तीव्र बन्ध किया था कहो उसी पुरुषके जब प्रज्ञा जगे, सम्यग्ज्ञान जगे तो अब वही-वही चीज बन्धके विनाशके लिए हो जाती है, बन्धके विनाशका साधन बन जाता है। तब ही वैराग्य उसका एक उच्च स्थितिको प्राप्त होता है। जैसे यह देह अज्ञान अवस्था रहनेकी स्थितिमें बन्धका कारण बना था वही अब प्रज्ञा प्रकाश मिलने पर वैराग्यका साधन बन जाता है। वे ही घरके लोग राग और मोहकी स्थितिमें बधके साधन बनते हैं और सम्यग्ज्ञान जगने पर फिर वे ही बध विनाशके साधन बन जाते हैं, अर्थात् उनको स्वतंत्र विचार कर उनको ज्ञानका विषयभूत बनाकर हम ज्ञानकी आराधनामें लग सकते हैं। तब बाह्य चीजोंको जिस समय शरीर आदिक वस्तुवोंकी रागादिक बुद्धिसे

देखा तो बन्धका कारण बना। वस्तुतः उनके प्रति जो राग था वह बन्धका कारण बना। अब वैराग्यबुद्धिसे इस देहको देखने लगे तो यही शरीर आदिक मुक्तिके यत्नमें सहायक बन गये। अब तपस्यामें लगाना, संयममें लगाना यह वृत्ति बन गई।

राग और वैराग्यके अनुसार देहका उपयोग--भैया! होता तो यही है ना। जब राग था तब इस देहको विषयोंके साधनमें लगाया। जब राग न था, वैराग्य था तो फिर इसे संयम और धर्मके साधनमें लगाया। है सब यहाँ राग और वैराग्यकी महिमा। राग भाव जैसे बनता हैं ऐसे भावोंको छोड़कर अन्तरङ्ग भावोंको करना चाहिए। पुराणोंमें सुनी, बहुत सी घटनाएँ मिलती हैं। किसीका किसीसे बहुत अधिक प्रेम राग मोह रहा हो पर कुछ ही समय बाद ऐसी स्थिति बन जाती है कि जैसे मानो कुछ परिचय ही न हो। श्री रामके पूर्वजोंमें वज्रबाहु हो गए हैं, ना उदयसुन्दर जिनका साला था। वज्रबाहुको अपनी स्त्रीसे बड़ा घनिष्ठ प्रेम था। जब उदयसुन्दर अपनी बहिनको लिवाये लिए जा रहा था तो वज्रबाहु भी उसके संग लग लिए। एक जंगलमें से गुजरे। कुछ ही क्षणमें एक मुनिराज के दर्शन करके और उनकी शान्त मुद्राका निर्णय करके, ओह! कैसी शान्त मुद्रा है, वास्तविक शान्ति तो यहीं है, कैसा उत्कृष्ट आत्मानुभव है। यह आनन्द रागमें नहीं है। इतनी बात चित्तमें बैठते ही वज्रबाहु मुनि हो गया जैसे मानो उस स्त्रीसे कुछ परिचय ही न हो। एकदम ऐसा मोह छूट गया। तो किसका विश्वास किया जाय? जब अपने रागका ही विश्वास नहीं है। तो और किसका विश्वास करें?

जगसे निराला रहकर रहनेमें बुद्धिमानी--यहाकी वस्तुवोंमें किसी भी परपदार्थमें अपना लगाव नहीं रखना है। विवेक सहित घरमें भी रहा जाय तो वह संसार परम्पराका कारण नहीं है और अविवेकसे साधु भी अगर बन जाय तो वहां भी यह मैं साधु हूं, त्यागी हूं, मेरा तो ऐसा पद है कि लोग पूजते रहें और मैं उनके सिर पर चढ़ूँ—कल्पनाएँ बनाता जाय, हाँ मेरी इतनी प्रतिष्ठा, पूजा, यश, नाम कुछ होता है तो वह ठीक है, होना चाहिए, मैं साधु हूं, मुझे तपस्या करना चाहिए। मैं साधु हूं। चित्स्वभावकी जिसे खबर नहीं और एक शरीरको ही अपनी दृष्टिमें रख कर सारा निर्णय बनाया जाय तो उसने संसारपरम्परा बढ़ायी और एक सद्गृहस्थ जो विवेकसहित सम्यक्त्वसहित जलमें भिन्न कमलकी भाँति रह रहा है वह संसारपरम्परा नहीं बढ़ाता।

अधिक: क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनः क्वचित्सम. ।
क्वचिद्विश्लेष एवाय बन्धमोक्षक्रमो मत ॥२४५॥

बन्धाबन्धविभिन्नतायें—इन जीवोंमें देखो कितने ही जीव तो ऐसे हैं कि जिनमें बन्धन तो बहुत होता है और निर्जरा थोड़ी होती है और कुछ जीवोंका समूह ऐसा है कि उतना ही बन्धन हो रहा है, उतनी ही निर्जरा हो रही है। समान काम चल रहा है और कुछ जीवोंका समूह ऐसा है कि जहाँ निर्जरा बहुत है, बन्धन कम है व कुछ जीवोंका समूह ऐसा है कि जहा केवल निर्जरा ही निर्जरा है। बन्धन होता ही नहीं है। ये चार चीजें बताई हैं। ऐसे कौनसे जीव हैं जिनके बन्धन तो बहुत हो और निर्जरा अत्यन्त तुच्छ हो, वे जीव हैं मिथ्यादृष्टि। मिथ्यात्व गुणस्थान वाले जीव हैं। उनके कर्मोंका बन्ध तो बहुत चलता है और निर्जरा अत्यन्त अल्प होती है।

मिथ्यात्वमें बन्धकी अधिकता--यद्यपि कुछ ऐसा लगता है कि वाह जितना बन्ध हुआ उतनी ही निर्जरा हुई, जितनी निर्जरा हुई उतना ही बंध होता है। जायेंगे कहा वे कर्मपरमाणु लेकिन बन्धके कालमें जितना जो कुछ बन्ध होता है उनमे से कितनी हो प्रकृतियां संक्रमण करती जाती हैं। वह संक्रमण चाहे पुण्य प्रकृतिया पापरूप बन जायें ऐसा अदल बदल हो जाये, उदीर्ण हो जाय, कुछ प्रकृतिया अन्य वातावरण पाकर अन्य रूप से खिर जायें, फल न दें, ऐसी बहुत सी स्थितिया होती हैं। जैसे इस समय हम आप मनुष्य हैं और गतिकी बात कहे तो चारों गतियोंकी सत्ता मौजूद होगी, कभी किसी भवमें नरकगतिका बंध किया, तिर्यञ्चगति का बन्ध, देवगतिका बन्ध और गतियोंका बन्ध कुछ कोड़ा कोड़ी सागरों तक का हो जाता है। जैसे तिर्यञ्च व नरकगतिका २० कोड़ाकोड़ी सागर मनुष्यगतिका १५ कोड़ाकोड़ी सागर व देवगतिका १० कोड़ाकोड़ी सागर का स्थितिबन्ध हो जाता है। आयुका बन्ध अवश्य परिमित होता है जितने समय तक कि भव पाना है। जैसे कोई पुरुष नरकआयुका बंध करे तो ज्यादासे ज्यादा ३३ सागर तक का बन्ध करले, पर नरक गतिका बन्ध २० कोड़ाकोड़ी सागर तकका करले तो नरक आयुको तो भोग आया। अब मनुष्य बन गया, तिर्यंच बन गया तो नरकगतिके परमाणु खिर रहे हैं, उदयमें आ रहे हैं। हम आपके चारों गतिया उदयमें आ रही होंगी, पर फल मिल रहा है मनुष्यगतिका। वे गतियां एकदम ठीक मौके पर जबकि विपाक काल आने को है, उदयावलिमें प्रवेश हो जाय उसी समय बदल जाती हैं। मनुष्यगति रूप होकर उदयमें आ जाती हैं।

कितनी विचित्र स्थिति है ? खैर, ऐसे जीव मिथ्यात्वगुणस्थान वाले हैं, जहाँ बंध तो बहुत है और निर्जरा थोड़ी है।

मिथ्यात्वमें निर्जराकी अत्यल्पता—दूसरा भाव यह ले लो कि उन मिथ्यादृष्टि जीवोंमें कभी तप करके कुतप करके अनेक मिथ्यादृष्टि तो बड़े शान्त भी होते हैं, सो कहो कोई द्रव्यलिङ्गी मुनि किसी शत्रुके द्वारा सताया जा रहा हो, शत्रु उसे घानीमें पेल रहा हो तिस पर भी वह मुनि उस शत्रु पर द्वेष न करे और समता रक्खे, मैं मुनि हूं, मेरा कर्तव्य रागद्वेष करने का नहीं है, यह जो कुछ करता है अपने कर्म बांधता है। जो कुछ है उसके उदयसे हो रहा है। मुझे इसमें द्वेष न करना चाहिए। इतना विवेक है और शान्ति समता है फिर भी मिथ्यात्व साथ है। तो क्या उसके थोड़े बहुत कुछ भी कर्मोंमें रंच फर्क न आता होगा ? उस ही को कोई निर्जरा मान ले तो ऐसी निर्जरा अत्यन्त अल्प है। और बन्धन बहुत है।

बन्ध व निर्जराकी समानता व असमानता—कोई जीव ऐसे हैं कि जितना ही बन्धन है उतनी ही निर्जरा चल रही है। जैसे अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यक्त्वके कारण निर्जरा है और अव्रतके कारण बंध है, समान बात हो रही है। पंचम गुणस्थानसे लेकर कुछ प्रमाद सहित गुणस्थान तक प्रमत्तगुणस्थान तक या जितना सम्भव हो ऐसे जीव हैं कि जिनका बंध तो कम है और निर्जरा अधिक हो रही है। ध्यानस्थ श्रेणीगत वीतराग जीव ऐसे हैं जिनके निर्जरा ही हो रही है, बंध नहीं हो रहा है। ११ वें, १२ वे १३ वें और १४ वें गुणस्थान ऐसे होते हैं जहा निर्जरा ही निर्जरा होती है, बध नहीं होता। यह बन्धनका और छूटनेका एक अनुक्रम बताया गया है।

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः ॥२४६॥

निर्वाणपात्र योगी—जिसके पुण्य और पाप निष्फल होकर स्वय गल जाते हैं वह योगी है और उसका नियमसे निर्वाण होता है। उसके फिर कभी आस्रव नहीं होता है। पुण्यको पुण्य सभी बताते हैं। पर कोई जीव ऐसे विशिष्ट संत ज्ञानी होते हैं जिनकी निगाहमें यह पुण्य भी पाप बन गया है। जिनकी दृष्टिमें पाप तो पाप है ही, किन्तु पुण्यकर्म भी बंध करने वाला, संसारमे रुलाने वाला यह सब दिखता है। सो बड़े वीतराग ऋषिसंतोंकी ऐसी स्थिति होती है कि उनके पुण्य और पाप दोनों निष्फल होकर खिर जाते हैं।

फल प्राप्तिका मर्म—पापका भी कैसा ही उदय आये उसमें जो भी फल सामने आया उस फलको हम अपनेमें लपेटें अर्थात् उसके फलको हम ग्रहण करें तब ही तो उसका फल समझिये। पुण्यका कितना ही फल सामने आये, बड़ा वैभव आये, चक्रवर्ती हो गए, तीर्थंकरका वैभव मिल गया, कैसा भी वैभव मिले उस वैभवको अपनायें, उससे अपना बड़प्पन मानें तब हो तो फल मिला समझिये। तो जो योगी संत विरक्त होते हैं, अपने आपमें केवल अपने स्वभावकी रुचि रखते हैं, किसी भी फलको अपनाते नहीं हैं, उनके पुण्य पाप ये सभी फल स्वयं खिर जाते हैं। पापके फलमें भय करना और उसे असुहावना मान लेना यही तो पापके फलका ग्रहण करना है। और पुण्यके फलमें इष्टवस्तु को अपना लेना, हर्षमग्न होना, यह पुण्यके फलका अपनाना है।

पुण्य पापके निष्फल गलनका कारण—अब सोचिये—ज्ञानी पुरुष चाहे कभी पापके फलमें थोड़ा बहुत लग जाय तो भी पुण्यके फलमें नहीं लगता। अर्थात पापका फल उपद्रव, परिग्रह, दु ख, क्लेश आयें, उनमें थोड़ा भय कर जाय, घबड़ा जाय, आकुलित हो जाय, किसी परिस्थितिमें यह सम्भव है, पर पुण्यके फलमें वह उसे अपनाये, उसमें हित माने, यह उस ज्ञानीके नहीं होता। तब इतनी बात माननेमें अब क्या सदेह रहा कि ज्ञानी सत योगी पुरुष पुण्य और पाप दोनोंके फलको अपनाते नहीं हैं। और इस उदारता एव ज्ञानप्रकाशकी स्थितिमें पुण्य और पापके फल निष्फल होकर स्वय खिर जाते हैं। और इस परमतपश्चरणके प्रसादसे उसे निर्वाण प्राप्त होता है।

पुण्य पाप गलनसे निर्वाणका लाभ—ससारभ्रमणके कारण पुण्य और पाप ही तो हैं। जैसे फलका मूल फूल है। फूल हो खिर जाय तो फल कहाँसे लगे? ऐसे ही जीवके चारों गतियोंके भ्रमानेका कारण ये शुभ अशुभ पुण्य पापके उदय हैं। जब योगी सतके ये पाप पुण्यकर्म ही निष्फल होकर खिर जाते हैं तो फिर नया शरीर कैसे मिलेगा? और यह शरीर न मिलें, इसका ही नाम निर्वाण है। इसकी प्राप्तिके लिए काम केवल परसे विविक्त होकर ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपको उपयोगमें लेना, इस ही रूप अपनी प्रतीति रखना, यही करनेका काम है।

महातपस्तडागस्य सभृतस्य गुणाम्भसा।
मर्यादापालिबन्धेल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम् ॥२४७॥

अल्प छिद्रके भी अनर्थकी कारणता—जैसे जलसे भरपूर सरोवरके चारों ओर पाल लगी हो और उस पालके बधमें कहीं थोड़ा भी छेद अथवा

दरार हो तो वह उपेक्षा करने लायक नहीं है। यदि उसकी उपेक्षा कर दी जाय तो वही छोटा छिद्र अथवा दरार पालको नष्ट करके कितने ही गाँवों को जलमग्न कर देगा। कोइ यह सोचे कि क्या है· इसमें जरासी ही तो टूटा है, पर थोड़ा भी छिद्र हो तो वह बढ़कर सारे पालको खत्म कर सकता है, तब उस सरोवरका पानी अनेक गाँवोंको डुबा देगा। ऐसे ही महान् तप रूपी समुद्रमें जिसमें कि बड़े गुण भरे हुए हैं, जो गुणरूपी जल से भरपूर है, उसमें चारों ओर मर्यादाका बाँध लगा हुआ है। उसमें कभी कोई दोष लगे तो वह उपेक्षा करने योग्य नहीं है। क्योंकि थोडे भी दोषकी उपेक्षा अल्प निकट कालमें ही एक बड़े दोषको उत्पन्न कर सकती है।

अल्प छेदसे गुणोंकी विराधना—जब तक तालाबकी पाल दृढ़ रहती है तब तक तालाबका जल व्यवस्थित रहता है, और पालमें रंचमात्र भी छिद्र हो जाय, पाल फूट जाय तो तालाबमें जल न रहेगा, ऐसे ही गुणरूप जल भरा है तपरूपी तालाबमें और उसकी पाल हैं प्रतिमायें। यदि प्रतिमा-धारण कर रंच भी डिग जाय तो गुणरूपी जल फिर उसमें ठहर नहीं सकता। इस छंदमें मुमुक्षुको यह शिक्षा दी है कि तू किसी भी समय अपने व्रतमें संयममें तपस्यामें किसी भी मर्यादामें अल्प भी दोष न लगा और लग जाय दोष तो उसकी उपेक्षा तो न कर। हो जाते हैं दोष, उनका बोध कर, उपेक्षा मत कर। जैसे भींतमें कहीं दरार हो जाय तो हो जाय, पर उसकी उपेक्षा तो न की जाय। यदि उसकी उपेक्षा की जायगी तो बरषातमें उससे हानि है। तो उस भींतकी दरारकी तुरन्त चिकित्सा करे, उसकी उपेक्षा करनेसे तो इस समस्त भींतको जल बहा देगा, और ऐसे ही दुर्गुण इस आत्माको गुणोंसे रिक्त कर देंगे।

दृढगुप्तिकपाटसंकृतिधृ तिभित्तिर्मतिपादसंभृति।
यतिरल्पमपि प्रपद्य रन्ध्रं कुटिलैर्विक्रियते गृहाकृति ॥२४८॥

अल्प छिद्रसे कुटिलोंका प्रवेश—जैसे कोई घर तो बनवाये बड़ी रुचि से, अच्छे मजबूत उसमें किवाडे भी लगाये। अच्छी मजबूत भींत बनाये, नींव भी उसकी मजबूत हो, पर उसमें ऐसी उपेक्षा रखी गई कि भींतोंमे कई छिद्र हो गये अथवा पहिलेसे रक्खे गये। उनको ढांका नहीं, छिद्र बने रहे, तो भले ही बढिया महल बनाया हो मगर साँप उस छिद्रमेंसे घरमें घुस लेंगे तो फिर क्या गुजारा होगा? अरे परिवारके किसी व्यक्तिको काट लेंगे तो मृत्यु हो जायगी। घर तो बनाया बढ़िया, पर उसके साधारण छिद्रकी परवाह न करनेसे उसमें सर्पोंके आवागमनके द्वार बन गये, तो जैसे वह अविवेकपूर्ण कार्य है इस ही प्रकार एक आध्यात्मिक महल तो

खड़ा किया, किन्तु वहाँ अनतिचारको कोई छिद्र रहने दिया तो वहाँ अनर्थ ही हो जायगा।

अध्यात्ममहलकी व्रतच्छेदसे हानि—देखिये कैसा सुदृढ है यह आत्म-महल— जिसमें मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके मजबूत किवाड़ लगे है। किवाड़में और गुप्तिमें समानता ही है। गुप्तिका अर्थ है रक्षा करना, किसी परभावको न आने देना और किवाड़का अर्थ है, कि मायने किसी को भी (वाड़) मायने रोक देना जो किसीको भी हो रोक दे सो किवाड़ है। तो एक अध्यात्ममहलमें मन, वचन गुप्तिके वड़े मजबूत किवाड़ भी लगाये गये हैं, धैर्यकी भींत उठायी गयी है। जैसे महलमें भींत मजबूत होती है ऐसे ही अध्यात्ममार्गमें धैर्यकी भींत मजबूत है, देखिये! कितना उत्तम महल वनाया जा रहा है और फिर भी एक कमी रह जायगी। उससे यह महल वना नहीं वनासा हो जायगा। इसको वतावेंगे।

दृढ महलमें भी छिद्र द्वारा कुटिलोंका प्रवेश—धैर्यकी भींत उदार विशाल वनाई गई है और नींव वृद्धिकी वड़ी गम्भीर खड़ी की है इस अध्यात्ममहल के लिए। जैसे महल उठानेको नींवपर ध्यान पहिलेसे दिया जाता है। पता नहीं उसपर दूसरा तीसरा मंजिल वनाना पड़े ऐसे ही अध्यात्ममहल में वुद्धिकी नींव वहुत गहरी वनायी है, यह वृद्धि ऐसी गहरी जगह पहुच जाती है जहाँ किसी अन्य चीजका प्रवेश नहीं है। जैसे एक लोकोक्तिमें कहते हैं— जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि। किसी गुफाके अन्दर जहाँ पर सूर्यका प्रकाश नहीं पहुच सकता वहाँका वर्णन कहो कवि इस तरहसे कर दे कि सुनने वालोंको उस गुफाके भीतरकी सारी चीजें सामने नजर आने लगें। तो इतनी वृद्धिकी नींव वनाई गई जहाँ किसी अन्य विरोधी चीजका प्रवेश न हो। और ऐसे महलके वनवानेमें भींतमें अनतिचारके छेद रह जायें तो वहाँ विनाशकारी कुटिल विकार सर्पोंका प्रवेश हो सकता है अर्थात् मुनिपद धारण करके अगर रंच भी दोष रह गए तो वे ही दोष इस मुनिपदको दूषित कर देते हैं।

अल्पछिद्रसे विकरालोंका आवागमन—जैसे वड़े-वड़े सर्प छोटे-छोटे छिद्रोंमेंसे भी प्रवेश कर जाते हैं, ऐसे ही छोटे-छोटे दोषोंसे वड़ी-वड़ी दुष्परिणति वाले महाविषधर रागादिक सर्प आ सकते हैं। मुनि पदको धारण करके वड़ी-वड़ी गुप्तियोंकी साधना करके, अपने धैर्यकी वृद्धि करके वड़ी वुद्धि और ज्ञानको भी पायें और एक मुनिपदका महल खड़ा करके वहाँ कोई अल्प व्रतभंगरूपी छिद्र रहने दे तो रागादिक कुटिल सर्प उसमें निवास कर लेंगे, और फिर वे ऐसे भयंकर सर्प हैं कि अनेक पर्यायोंमें

अनेक वार मरण करायेंगे। यहां का सर्प एक वार डस ले तो एक भवका मरण हो गया किन्तु ये रागादिक सर्प डस लें तो भव-भवमें मरण करायेंगे। हे साधु-और भी ज्ञानी पुरुषोंकी दशायें देखो। भूल मत जावो। लोग मोह भाव करके वहुत चैन मानते हैं, कि हम वहुत रक्षित हैं, पर ये मोहादिक सर्प इतने भयकर हैं कि इनका डसा हुआ प्राणी भव-भवमें जन्म लेगा और मरण करेगा।

निरपराध होकर अध्यात्मविकासमें बढ़नेकी शिक्षा--यह ग्रन्थ साधुजनों के लिए बना है ना, तो उनके सम्बोधनमें यह वात कही जा रही है। पर इससे हम आप सभीको शिक्षा मिलती है क्योंकि हम आप भी उन ही जैसे एक पुरुष हैं। अन्तर सिर्फ इतना है कि साधुजन निरारम्भ और निष्परिग्रह हैं, हम आपमें अभी यह वात नहीं है। पर ये सब बातें हम आप सबको अपने आप पर भी घटानी चाहिएँ। इस अध्यात्म चमत्कार को निरखकर प्रसन्न रहना यही तो एक हमारे करने के लिए काम रह गया है। देखो जो पद धारण किया गया है—व्रत, ध्यान, संयम ग्रहण किया गया है—इनमें निर्दोषता रही, इनका भंग नहीं हो सका तो हम निरापद होकर निराबाध होकर इस अध्यात्म चमत्कारका दर्शन करके अपनी शान्ति प्रसन्नता बढ़ा सकेंगे।

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्यक्तस्तपोभिरतिदुर्धरैः।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः ॥२४६॥

परदोषवादसे दोषोंका पोषण--देखो तो मूढता कि अपने दोषोंको अवगुणोंको मूलसे नष्ट करने के लिए तो उद्यमी बने, बड़ी दुर्लभ तपस्यायें धारण करते हुए अज्ञानी बनकर एक व्यर्थका दोष ऐसा बना लिया है कि जिससे उन ही दोषोंका पोषण हो रहा है। वे दोष क्या हैं? दूसरोंके दोषों के बोलने में मजा लेना। आचार्यदेव कैसा छांट छांट कर सफाया करने का यत्न कर रहे हैं। होता है ना किन्हीं बड़े-बड़े तपस्वीजनोंमें यह महत्त्वसे सम्बन्धित ऐब। ऐसी दुर्धर तपस्या करले, बड़ा संयम पाल ले, निरारम्भ, निष्परिग्रह सब कुछ वृत्तियां, धारण करले लेकिन एक ठलुवा बैठे कभी भी किसीका दोष कहनेमें दिलचस्पी ले लें, तो इतने मात्रसे करी कराई वह सारी तपस्या मिट्टीमें मिला दी। जैसे कहते हैं ना गुड गोवर एक कर दिया। भैया! दुर्धर संयम पालन करके एक परदोषवादकी वातको किए विना कुछ अटक थी क्या, कुछ नुक्सान था क्या, जो दूसरेके दोषोंकी कथा न करते? एक व्यर्थ सी वातका बड़ेसे बड़ा झमेला खड़ा कर दिया, जिसे कहते हैं गुणों पर पानी फेर दिया। गुणोंका विकास

करने के लिए, कर्ममलोंको नष्ट करने के लिए तपस्या किया, परदोषवादके ऐवसे उन कर्ममलोंको बहुत दृढ़ बना दिया।

अज्ञानान्धकारमें अज्ञानान्धकारकी अज्ञानान्धकी प्रवृत्ति--अंधकार तो अन्धकार ही है। तिलकी ओटसे पहाड़ ढक जाता है। देखो आखके अन्दर जो एक तिल बराबर काला निशान होता है वही दिखनेका कारण है। उस तिलके दाने बराबर जगहमें तिलका दाना तो नहीं चिपक सकता पर तिलके दाने बराबर कागजका टुकड़ा उसी जगह चिपका लिया जाय तो मीलों लम्बा पहाड़ ढक जायेगा, दिखाई न पड़ेगा। तो जैसे मीलों लम्बा चौड़ा पहाड़ एक तिलके दाने से साराका सारा ढक जाता है ऐसे ही देखो—यहा निरारम्भ रहे, निष्परिग्रह रहे, वनमें रहे, बड़ी-बड़ी तपस्यायें करते रहे, भूख प्यास सर्दी गर्मीकी बड़ी बड़ी वेदनाएँ सहीं, रात दिनकी चर्यायें भी बडे संयमपूर्ण चलती रहीं, पर बैठ गये चार छ. मुनि किसी जगह, बैठते ही हैं कभी तो बैठे हुएमें दूसरेके दोष बतानेमें दिल बहला रहे हैं, चाहे वह थोडे समयको ही क्यों न हो, पर लो इस अंधकारसे जहां कि चैतन्यस्वरूपकी प्रबल रुचि होनी चाहिए थी, क्या मतलब है जगत्के अन्य जीवोंसे, उस ही चैतन्यस्वभावकी मुख्यतासे निरखते रहना चाहिए था, लेकिन उस निरखन पर आवरण कर दिया। किसी परके दोष बताने से तो खुदके ही दोषोंका पोषण हो गया। ये सब व्यर्थके कार्य काहेके लिए किए जा रहे हैं ?

परदोषवादसे लाभका अभाव--जो विवेकी पुरुष होते हैं वे परनिन्दा से दूर रहा करते हैं। परकी निन्दा वे नहीं करते हैं। परनिन्दासे क्या सिद्धि कर ली जायेगी ? परनिन्दा करनेसे क्या खुदकी सिद्धि होगी, क्या दूसरों की, क्या समाजकी, क्या दुनियाकी ? परनिन्दाका जो भाव मनमें आया उसमें बुद्धि लगी तो वहा खुदका क्या भला हुआ ? वहा कर्मबन्ध किया और जिसकी निन्दा की जाय उसका भी भला क्या हुआ ? इस तरीके से दोष छूट जायेंगे क्या ? परदोषवाद ने समाजमें भी कौनसा लाभ पहुंचा दिया। कहो समाजके लोग कुछ धर्ममें लगे हों तो कहो और छोड़ दें यह सोचकर कि यहां तो कुछ सचाई ही नहीं है। कौन सा लाभ पहुचाता ? हा यदि करुणा है तो जिसका दोष है उस ही से ऐसी शैलीसे कहा जाये कि उस पर असर हो। लौकिक जनसमूहमें या कुछ अपनी गोष्ठोमें, कहीं पर भी दोषवादसे क्या लाभ होता है ? सो अपने आपमें इसको घटा भी लो, देख भी लो कि क्या लाभ

कर्मबंध भी किया।

साधु सम्बोधन—साधुजनोंको आचार्यदेव सम्बोध रहे हैं कि हे साधुजनो! इतना बड़ा तो उद्यम कर रहे हो, इतनी तो दुर्धर तपस्या कर रहे हो, और एक व्यर्थकी बात, जिसके बिना कुछ अटकी नहीं, उस दोषवादसे तुम अपने सारे उद्देश्यों पर पानी फेर रहे हो। जिन दोषोंका विनाश करनेके लिए यह दीक्षा धारण की है उन ही दोषोंका एक व्यर्थकी आदतसे पोषण कर रहे हो। हे साधु! यह तुम्हें शोभा नहीं देता है। तुम्हें भव-भवमें रुलानेका ही यह उपाय है जो कुछ तुम रौद्रध्यान सहित यहां कर रहे हो। संसारके कारणभूत ध्यान दो प्रकारके कहे गए हैं, आर्त और रौद्र, इनमें रौद्रध्यान बहुत मलिन परिणाम वाला है और इसी कारण रौद्रध्यान मुनियोंके नहीं होता। कदाचित् आर्तध्यान हो सकता है। आर्तध्यान मुनिके होकर भी मुनिपद घात नहीं कर पाता— और कदाचित् रौद्रध्यान हो जाय तो मुनिपदका भंग हो जाता है। वह छठे गुणस्थानमें नहीं ठहर सकता है। उसका भाव गिर जायेगा। आर्तध्यानमें तो क्लेश होता है और रौद्रध्यानमें मौज माना जा है, हिंसा करके झूठ बोलकर, निन्दा करके, आनन्द मानना— ये सब रौद्रध्यान हैं। हे साधु जनो! व्यर्थ की इन किललतोंका परित्याग कर और अपने उद्देश्यको सफल बनाने की धुनमें लगो।

> दोषः सर्वगुणाकरस्य महतो दैवानुरोधात् क्वचि—
> ज्जातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं द्रष्टुमन्धोप्यलम्।
> द्रष्टाप्नोति न तावतास्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जग—
> द्विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किं कोप्यगात्तत्पदम्॥२५०॥

गुणीमें दोषकी प्रगुप्ता—देखो जैसे चन्द्रमा उज्ज्वल है, कान्तिमान है, शीतल है, आताप बुझाने वाला है, सर्वगुणसम्पन्न है, पर एक बात और बड़े गजबकी यह है कि चन्द्रमामें जितना लाञ्छन लगा है, काला दाग रहता है, उससे बड़े काले-काले और भी पदार्थ हैं पर उतनी दूर रहने वाला चन्द्रमा अपनी उज्ज्वलताके कारण मदद्दष्टि वालोंको अंधोंको भी, जिनको कि बहुत कम दिखना है उनको भी यह चन्द्रमा अपनी उज्ज्वलताके कारण दोष प्रकट कर देता है कि मुझमें यह कालिमा है।

दोषकी ख्यातिमें दोषधामके गुणोंकी साधकता—जहां अनेक गुण होते हैं वे गुण ही वहां यदि कोई दोष हो तो दोषको प्रकट कर देते हैं। जिसका जितना विस्तृत यश फैला हो उससे अपयशका कार्य बने तो इतने विस्तार में दोषके फैल जानेका कारण यह यश ही है। बहुतसे जीव हैं, मोही,

अवगुणी, पापी, कषायी हैं। किस किसको जानते हो? बहुतसी काली चीजें हैं और यह चन्द्र तो यहांसे लाखों मील दूर है। दस मील दूरकी भी काली चीज हमें नहीं दिखती। पर लाखों मील दूर यह चन्द्रमा है, इस चन्द्रमाकी कालिमा अंधों तकको अर्थात् कम दृष्टि वालों तकको दिख जाती है। तो इस चन्द्रने स्वयं अपनी स्वच्छताके कारण अपनी मलिनता प्रकट कर दी, ऐसे ही हे साधु! तुम सर्वगुणोंकी खान हो, शान्ति भी रखते हो, विषयकषायों पर विजय भी किया है, कर रहे हो, बड़ी दुर्धर तपस्या भी करते हो, ज्ञानकी भी लौ तुम्हारे लगी है फिर भी कभी कर्मोंके तीव्र उदयवश पापोदयसे कदाचित् कोई लाञ्छन लग जाय, व्रतभंगदोष, ऐब, असदाचार बन जाय तो उसको देखनेके लिए अधेजन भी समर्थ हैं।

लिशदोषकी भी बाधकता—भला कोई चन्द्रमाके पास जाकर उसके कलेपनको देखकर आया है क्या? तो वह यहांसे बहुत दूर है फिर भी वह सब लाञ्छन फैल गया है। ऐसे ही हे साधु! तेरे पास दोष जाननेके लिये जनता तो रखी जाती नहीं है पर तेरेमें दोष हुआ तो वह सब प्रकट हो जायगा। दूसरे ये तेरे गुण ही रंचमात्र दोषको भी प्रकट कर देनेके कारण बन जाते हैं। किसी महान् पुरुषमें कोई दोष हो तो उसको देखनेके लिए अविवेकी पुरुष भी समर्थ हो जाते हैं। जगतकी दृष्टिमें वे सब दोष आ जाते हैं। वस्तुतः जहां गुण होते हैं वहां दोष टिक नहीं सकता है। तो गुणपूरित मुनिपदमें अवगुण टिक न सकेगा, प्रकट होगा। कोई ऐसी तर्कणा करे कि साधुजन अपनेसे तो बहुत अच्छे हैं, उनके तो गुण ही ग्रहण करें, इस सम्बंधमें क्या उपयोग देना कि भाई उच्चपद प्राप्त करके अवगुण एक भी न टिकना चाहिए। इसका समाधान सुनिये, जैसे कोई अव्रती दसों बार भोजन करे तो उसकी कोई निन्दा करता है क्या? और व्रती, साधुजन उपवास ग्रहण करके कोई रंच भी वस्तु खावे तो उसकी निन्दा होने लगती है। अल्प दोषको भी अपनेमें न आने देना, यही शुद्ध मार्ग है।

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्।
उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ॥२५१॥

उत्तरोत्तरविज्ञानसे योगियोंके पूर्व अज्ञानचेष्टाओंकी भासना—योगी पुरुषोंको ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर विज्ञान बढ़ता जाता है त्यों त्यों ऐसा प्रतिभासित होता है कि मैंने पहिले जो जो कुछ आचरण किया वे वे सब अज्ञानमयी चेष्टायें हुईं। ज्ञानमय चेष्टा क्या है? राग विरोध, मात्सर्य कषायोंकी मलिनता न हो और मात्र पदार्थका ज्ञाता द्रष्टा रहना यह तो

है ज्ञानमय चेष्टा, अब इस ज्ञानमय चेष्टाको लक्ष्यमें लेकर पहिलेके आचरणोंको परख डालिये। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहके पाप तो साधारणजनोंको भी थोड़ा विवेक आनेपर अज्ञान भरी चेष्टा हुई ऐसा विदित हो जाता है। किन्तु देखो जिसको साधारणतया लोग ज्ञानमयी चेष्टा कहा करते हैं वे सब अज्ञानमयी चेष्टाएँ हैं। वे चेष्टायें अज्ञानमयी हैं ऐसा योगीको उत्तरोत्तर विज्ञान होनेसे प्रतिभासित होता है।

रागसम्बन्धित चेष्टाओंसे अज्ञानमयताकी भासना—जैसे व्रत, तप, संयम, नियम, सदाचार, इन सब कामोंमें लगा है वह योगी और उन कामोंको बड़े योग और विकल्पपूर्वक निभा रहा है, फिर भी जब स्वरूपकी सुध होती है और ज्ञानचेष्टाका स्मरण होता है तब उनके ये सब अज्ञानमयी चेष्टायें भगती हैं। अज्ञान चेष्टा विदित करते भी जायें, ऐसा भी कदाचित् तत्त्वज्ञानी पुरुषके सम्भव होता है। अब सामायिकमें पूरब दिशाको मुँह करके खडे होकर नमस्कार कर रहे हैं, अब दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके नमस्कार कर रहे हैं, अरे ये काम इस आत्माके हैं क्या? उस स्थितिमें किये बिना गुजारा भी नहीं, करते भी जा रहे हैं और क्या मेरा यह काम है, यह तो मेरा कार्य नहीं है, हो रहा है, लो यों यह तो झट ही विदित हो जाता है। जैसे किसी दूसरे की आलोचना करना, दूसरेके अवगुण और अपनी कुछ महिमा बता देना, ये अज्ञान चेष्टायें हैं। अज्ञानी जनोंको बहुत जल्दी नहीं भासती हैं कि ये अज्ञानचेष्टायें हैं, लेकिन फिर भी कुछ विवेक होने पर उन्हें भी ये सब बुरी भासने लगती हैं कि ये अज्ञान चेष्टायें।

ज्ञातृत्वके अतिरिक्त अन्य चेष्टाओंकी अज्ञानरूपता—यहां कुछ और अन्तःमर्मकी बात समझो। यावन्मात्र मनकी, वचनकी, कायकी चेष्टायें हैं वे सब भी जिस योगीको अज्ञान चेष्टायें भासने लगीं। उस योगीका विज्ञान उत्कृष्ट है। किसी क्षण वैराग्य जगे तो पूर्ण तो जग जाये। चाहे दो मिनटको भी मनमें आये कि प्रत्येक पदार्थ भिन्न हैं, मेरे लिए अहित रूप हैं, मेरा किसीसे कुछ वास्ता नहीं है। इनका सम्बन्ध बनाकर मेरी बरबादी ही है, ऐसा समझकर किसी भी क्षण सर्व परसे उपेक्षाभाव हो जाय तो समझो कि अपना जीवन सफल है। अन्यथा जीवनमें और किया क्या जा रहा है? परके सम्बन्धमें संकल्प विकल्प करना और उसमें ही अपनी चतुराई समझना, यही तो किया जा रहा है। हालांकि यह बात इस पदवीमें इस स्थितिमें पूर्णरूपसे हट नहीं सकती, पर जहाँ नाना बातोंमें भावुकता जग जाती है और आग्रह बन जाता है तो दो मिनट तो कभी

अपने आपको विविक्त लखने के लिए आग्रह भी हो जाना चाहिए, परन्तु मोहका ऐसा संस्कार इस जीव पर छाया है कि धर्मकी बात आये, धर्म भी करें, परन्तु परका सम्बन्ध एक सेकेण्ड को भी अपने चित्तसे हटाना नहीं चाहते।

रागसे चित्तकी अस्थिरता—लोग कहते हैं कि जहाँ आप देने लगे, हाथमें माला उठायी, बस पचासों जगह मन भ्रमण करने लगता है और वैसे जापमें न बैठें तो पचासों जगह मन नहीं घूमता। अरे मन पचासों जगह जाय न तो और हो क्या? चित्तमें तो परपदार्थोंकी प्रीति बसी है, उसको तो अपने हृदयसे एक क्षण भी निकालना नहीं चाहते तो पचासों जगह तो मन जायेगा ही। आप सोचते होंगे कि इसमें तो अच्छी दूकान है, वहां उपयोग एक दूकानमें ही जम रहा है, अन्यत्र कहीं मन नहीं जाता। अरे उस दूकानमें दूकानके कार्योंकी वजहसे तो बंध हो ही रहा है, साथ ही जितनी वासना बसी है वह भीतरमें अन्त: व्यक्त होकर काम करती है। उससे भी बन्ध चल रहा है। जब सो जाते हैं, नींद आ जाती है तो मन क्या काम करता है? उस समय सोने वाले को भी विदित नहीं है और दूसरोंको भी कोई अंदाज नहीं, लेकिन मन क्या भीतर कुछ कर नहीं रहा है? अन्त: व्यक्त उसका कार्य हो रहा है और कभी कभी तो इस नींद लेने वालेको विदित हो जाता है स्वप्नके रूपमें।

निद्राके विकल्प—कोई कहे कि भाई धर्म तो शयन करना है, नींद लेना है क्योंकि नींदमें यहां वहांकी बातें तो नहीं आतीं। इससे अच्छा धर्म और क्या होगा? अरे भाई नींद लेनेमें बड़े-बड़े विकल्प हैं। निद्रा को तो कर्मबन्धका विशेष कारण बताया है। दिनमें कोई कोई सोये तो उसके तीव्र कर्मबंध बताया है रातको सोने की अपेक्षा। रातका सोना तो वैयावृत्तिका है, क्योंकि दिन भर खूब काम किया, थक गए, अब रातको नींद ले रहे हैं, यह तो ठीक है किन्तु दिनका सोना महा उजड्डपनेका काम है। दिनको तो वही सोते हैं जो प्राय: बेकार हों, फालतू हों, तो यह नींद लेना, सोना कोई निर्विकल्प दशा नहीं है। वहां अव्यक्त किन्तु अन्त: व्यक्त विकल्प चलते रहते हैं। एक तत्त्वज्ञान ही धर्ममार्गका साधक है, अन्य स्थितियां धर्मपालनमें साधक नहीं हैं।

विचेष्टाओंकी अज्ञानमयिता—जैसे जैसे उत्तरोत्तर योगीके विज्ञान बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे पूर्वके आचरण सब अज्ञान चेष्टायें मालूम होती हैं। खुद पर बात घटा लो, ज्यों-ज्यों तत्त्वका मर्म विदित होता जाता है त्यों त्यों अद्भुत आनन्द होता है और जिस प्रवृत्तिमें, जिस चेष्टा

में हम धर्म मानते थे, संतुष्ट होते थे उससे उपेक्षा हो जाती है तो जिस योगीको अपनी ये भली क्रियाएँ भी अज्ञान चेष्टाएँ विदित होती हैं, उसके निर्णयमें परके अवगुण कहना। अपने कुछ गुण बखानना ऐसे मोटे दोष तो अज्ञान भरी चेष्टायें हैं ही।

योग्य व्यवहार्यता—भैया! इस जीवनमें कुछ इन शिक्षाओंपर चलो तो उसका आनन्द मिले। पहिली बात तो यह है कि परके अवगुण न बखानना, आलोचना न पढ़ना। दूसरी बात यह है कि अपना महत्त्व अपने गुण अपने आप न प्रकट करना चाहिये। यह कल्याणार्थीजनोंकी बात कही जा रही है। बड़ी सूक्ष्मतासे देखो तो कैसे-कैसे वचन और लटका हैं कि जिनमें अपने गुण प्रकट करनेकी बात बसी रहती है। जैसे कोई-कोई कहने लगते कि भाई हममें एक बहुत बड़ा ऐब यह है कि हम जैसीकी तैसी बात कह डालते हैं, चूकते नहीं हैं। इसमें देखो— सूक्ष्मता से विचारो— अपना गुण अपने आप प्रकट करनेकी बात बसी है। या यों समझो कि सरकार दूकानदारोंको परेशान करनेके लिए अनेक कानून बनाती है, पर दूकानदार अपनी कानून पहिलेसे तैयार रखते हैं, तुम कितने ही कानून बनाओ, हम यों बनायेंगे। तो ऐसी ही कितनी ही ऐसी शैलियां होती हैं जिनमें अपने गुण अपने आप प्रकट करनेकी बात बसी होती है।

विचेष्टाओंसे विरत होनेकी आवश्यकता—भैया! अपने चित्तमें ऐसा आशय बनाना चाहिए कि इस मायामयी असार विनश्वर दुनियामें अपना काल्पनिक महत्त्व स्थापित करके हम कौनसा हित पा लेंगे? ऐसा भीतरमें भाव भर गया हो तो उसकी चेष्टासे कुछ भी प्रकट हों तो भी दोष नहीं, और जिसके भावोंमें विरक्ति नहीं है, जगतको मायारूपताका निर्णय नहीं है वह कैसा ही बोले, उसमें भरा रहेगा अपना गर्व। जो कुछ ये चेष्टाएँ होती हैं सब अज्ञानमयी हैं ऐसा जानने वाले योगी पुरुषको उत्तरोत्तर विज्ञान बढ़ना भी निश्चित रहता है।

> अपि सुतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते,
> भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता।
> इति कृतधियः कृच्छ्रारम्भैश्चरन्ति निरन्तरम्,
> चितपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहाः ॥२५२॥

ज्ञानी संतोंकी गतस्पृहता—बड़े बड़े तपस्वियोंके भी आशारूपी बेल की शिखा तरुणकी तरह आचरण करती है। जब तक मनरूपी जलमें ममताकी आर्द्रता बसी हुई है तब तक यह आशारूप बेल कैसे सूख सकेगी, ऐसा जानकर विवेकी पुरुष अपने इस देहमें भी अत्यन्त उदास रहते हैं

अर्थात् वे देहके संयोगकी वियोगकी कोई वाञ्छा व भीति नहीं करते हैं। जिसने जहाँ अपना दिल लगाया, धुन लगाया, रुचि बनायी वह किसी भी प्रकार अपनी रुचिकी पूर्तिका यत्न करेगा, बाहरी लोगोंका ख्याल, अथवा लगाव ये सब गौण हो जायेंगे। यद्यपि इस शरीरका चिरकालसे परिचय है तो भी मुनिको शरीरसे ममता नहीं है। वह देहसे निस्पृह है। कैसा विवेक है? जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला एक्सरायन्त्र कपड़ा, चमड़ा, रोम, खून, मास मज्जा इन सबको छोड़कर भीतरकी हड्डीका फोटो ले लेता है ऐसे ही ज्ञानी पुरुष अपने आपमें आवरण करने वाले अन्य समस्त पदार्थों में न अटक कर अत्यन्त अन्त पहुचकर एक उस चैतन्यस्वभावको अपने उपयोगमें ले लेता है। रागद्वेषकर्म इन सबको भी पार करके एक चित्प्रकाश का उपयोग करता है।

अज्ञानीके मरणभीतिका सद्भाव—भैया! अन्तस्तत्त्वकी धुन जिसकी बन जाती है, ठीक यथार्थ बात ज्ञात हो जाती है उसे मरणका भय नहीं होता। मरणका भय मोही जीवोंको हुआ करता है। इस शरीरसे निकल कर जा रहे इसका डर यहाँ कोई नहीं कर रहा, किन्तु बड़ी मुश्किलसे यह वैभव कमाया, दूकान बनाया, लड़कोंको पढ़ा लिखाकर अच्छे ओहदों पर लगाया, अब तो जिन्दा रहकर भोग लूटनेका समय था पर यह सब कुछ छूट रहा है, इसका क्लेश होता है। जिस ज्ञानी योगीको यथार्थ निर्णय हो जाय, उपेक्षा जगे, पक्की बात समझ जाय कि मेरा मेरे सिवाय अन्य तत्त्व में कुछ नहीं रक्खा है, ऐसा पुरुष मरण समयमें भीति नहीं करता।

ज्ञानीके मरणभीतिका अभाव—भैया! मरणमें क्या है परेशानी? जैसे कोई टूटा फूटा मकान छोड़कर नये महलमें जाये तो वह तो बड़ी उत्सुकतासे जाता है, ऐसे ही वह ज्ञानी इस भवको छोड़कर दूसरे भवमें जाता है तो उसे रंच भी खेद नहीं होता। उसके चित्तमें यह बसा है कि मेरा तो मेरेमें विकास है न कि विनाश। जैसे यहा के सारे आध्यात्मिक ठाठबाट हैं ऐसे ही जहा इस शरीरको छोड़कर जायेंगे वहा भी ऐसे ही आध्यात्मिक समागम मिलेंगे। इस भवको छोड़कर अन्य भवमें जाना मेरे लिए कुछ भी अहितकारक नहीं है ऐसा ज्ञानीपुरुष जानता है। ज्ञानी पुरुष इस शरीरकी भी स्पृहासे रहित हो जाया करते और इसी कारण तो उनकी प्रवृत्ति देखकर मोहीजन अचरज करते हैं। आह! कैसा शरीरको सुखा रहे हैं, कैसे-कैसे उपवास, कैसा मक्खी मच्छरयुक्त जगलका निवास न जाने क्या धुन समायी हुई है, इनको बड़ा कष्ट है। यों मोहियोंको आश्चर्य होता है और वे योगीजन खुश होकर इस तपस्यामें लगते हैं।

उनको तो निर्मलतामें लाभ दीखता है और मलिनतामें हानि दीखती है। कैसे भी कष्ट आयें, कैसी भी स्थिति गुजरे, पर ज्ञानीपुरुष तो सदा प्रसन्नचित्त रहा करते हैं। उन्हें तो कष्ट सहना मजूर है पर अपनी निर्मलता जगनेके उपायोंका त्यागना मंजूर नहीं है। यह सब वृत्ति योगी पुरुषमें कैसे जगी है? तत्त्वज्ञानसे और तत्त्वज्ञानके कारण उत्पन्न हुए वैराग्यसे।

क्षीरनीरवदभेदरूपनस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः।
भेद एक यदि भेदवत्स्वलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ॥२५३॥

विविक्त अन्तस्तत्त्वका दर्शन—जब क्षीर नीरकी तरह एक रूपसे रहने वाले इस जीव और इस शरीरमें ही भेद पड़ा हुआ है तो प्रकट भेद वाले बाह्य पदार्थोंकी क्या कथा कही जाय? वे तो प्रकट भिन्न ही। स्थूल शरीर से भी जीवका वियोग हो जाता सो तो सभी लोग जानते हैं, पर तैजस कार्माणरूप सूक्ष्मशरीर का भी इस जीवसे वियोग हो जाता है। मोटे रूपसे इस शरीरको दृष्टिमें निषेध करें। जब यह शरीर भी मेरा नहीं रह पाता तो अन्य भिन्न पदार्थ तो मेरे होंगे ही क्या?

भेदभावना—देखिये अपने आनन्द व संतोषको उत्पन्न करने वाले आप स्वयं हैं। कोई दूसरा आपको शान्ति आनन्द देने न आयेगा। शान्ति आपके ही अनुकूल विशुद्ध परिणमनसे उत्पन्न होगी। उसके लिए चाहिए तत्त्वज्ञान। देखो जब शरीर ही जीवसे जुदा है तो गृहस्थीके लिए समझ लो कि पुत्र स्त्री इत्यादि तो सभी प्रकट जुदे हैं। साधुजनोंके लिए समझ लो कि संगमें जो शिष्यजन हैं वे सब प्रकट जुदे हैं। शिष्यजनोंमें भी यदि साधुको मोह हो जाय तो वहाँ विशुद्धि नहीं रहती। सो यह मोह तो छोड़ने ही योग्य है। जिस मिनट भी मोह छोड़ो एकदम छोड़ो। श्रद्धा तो समर्थ ही है और जरा उपयोगको उसमें स्थिर कर लो, फिर अपने अन्तरङ्गमें प्रकट होने वाले उस निराकुल विशुद्ध आनन्दका स्वाद लो।

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं राऽनलसंगमात्।
इह देह परित्यज्य शीतीभूता शिवैषिणः ॥२५४॥

कल्याणार्थीका चिन्तन—ज्ञानी पुरुष विचार कर रहा है कि मैं अब तक देहके संयोगसे ऐसा संतप्त हुआ जैसे अग्निके सम्बंधसे जल संतप्त हो जाता है। जो पुरुष यहाँ देहका परित्याग करके सन्तुष्ट हुए हैं ऐसे ही जिस ढंगसे ममताका त्याग करनेके उपायसे देहको त्यागकर कल्याणार्थी पुरुष शान्त हुए। तुम भी इसी मार्गपर चलकर शान्त होवो।

देहके संयोगसे संतप्तता—जितने भी इस लोकमें क्लेश हैं वे सब इस

देहके सम्बधसे हैं। अपमानका दु'ख, अपयसका दु ख, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, सुख, दु'ख, रोग इत्यादिके दु'ख ये सब इस शरीरके सम्बधके कारण हैं। सो यह निर्णय रक्खें कि जब तक देहसे छुटकारा न मिलेगा तब तक अविश्वसनीय हालत रहेगी। किसी भवमें पुण्योदयसे कुछ अच्छा समागम मिल गया तो उससे क्या आत्माका हित हो गया ? ये सासारिक सुख भोगनेके योग्य नहीं हैं। इनका कोई विश्वास भी है क्या ?

ज्ञानीकी समागमके प्रति दृष्टि—जैसे पहिले लोग बारातोंमें जाते थे तो पुरुष खूब गहने पहिन कर जाते थे। गलेमें गुञ्ज गोप, कमरमें करधनी, हाथमें चूड़ा आदि इनको पहिनते थे। खूब सज धजकर जाते थे। चाहे बूढ़े हों, चाहे जवान। जिनके पास नहीं होते थे वे दूसरोंसे मागकर पहिन कर जाते थे। जो मागकर पहिनकर जाते थे वे खुद जान रहे हैं कि ये सब गहने विराने हैं, मेरे नहीं हैं। तीन दिनके लिए मागकर लाये हैं। तीन दिनके बादमें देना पडेगा। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि यहांके सारे नटखट लीलाएँ मेरी नहीं हैं, ये सब मांगी हुई चीजें हैं। अर्थात् पुण्यकर्मके उदयका निमित्त पाकर कुछ दिनोंको मिली हुई चीजें हैं, मेरा यहाँ कहीं कुछ नहीं है। कुछ दिनों बाद इन्हें देना ही पडेगा। देते हैं सब कोई किसी तरह दे, कोई किसी तरह। एक कविने बताया है कि सबसे बड़ा दानी दुनियामें महाकजूस है। कैसे कि वह पैसेमें हाथ तक नहीं लगाता, न खाये, न खर्चे, न भोगे, पूराका पूरा सारा धन इकट्ठा अन्तमें दूसरे को दे जाता है। अन्य लोग तो ऐसे हैं कि उस धनको खर्च करते, भोगते, कोई धर्मका कार्य अटका हो तो उसमें लगा जाते, मगर कजूस तो ऐसा दानी है कि उसमें से कुछ भी खच न करके मरकर पूरा दे जाता है।

देहसगसे सतप्ता—जितने भी क्लेश हैं वे सब शरीरके कारण हैं। तो अब कल्पनामें यह बात सोच लो कि जब कभी हमारी ऐसी स्थिति हो कि शरीर हो ही नहीं बिल्कुल। ये जो स्थूल शरीर हैं मनुष्यतिर्यञ्चके ये शरीर बिल्कुल हो ही नहीं, और शरीर न हों, उसके लिए प्रथम यह आवश्यक है कि तैजसकार्माण शरीर भी न हो, केवल जैसा अमूर्तनिरञ्जन शुद्ध प्रतिभासात्मक जो मेरा स्वरूप है वही मात्र हो, ऐसी कल्पना ही कभी बन जाय तो उसमें ही विचित्र आनन्द लूट लोगे। कल्पना भी तो नहीं करता यह जीव कि मैं कभी एकाकी भी रह सकता हू। केवल अपने स्वरूपमात्र ही रहू, ऐसी भी स्थिति हो सकेगी। सोच लो एसा तो उस चिन्तन में ही विशुद्ध आनन्दकी झलक होगी। तो इस देहको त्यागकर ही कल्याणी पुरुष ठडे हुए हैं। देहके सम्बंधसे सतप्त थे ना, तो देहका जब अभाव

हुआ, वियोग हुआ तब यह जीव ठहा हो गया अर्थात् शान्त हो गया।

हितरूप स्थितिकी कल्पना--भैया! कभी अपने बारेमें यह कल्पना तो लाया करें कि मुझे हितरूपके लिये क्या बनना है? बनना कुछ नहीं है किन्तु जो मैं स्वयं हूं इतना मात्र रहना है। बने इसका ही क्लेश है। तो जो मैं स्वयं हूं उस रूप मुझे रहना है। केवल स्वरूपको निहारकर, शरीरको भी भूलकर ऐसी स्थिति आ सकती है। कोई चिन्तन ऐसा होता है कि शरीर दृष्टिमें ही न रहे। मेरे साथ न शरीर हो, न कर्म हो और फिर दोनोंका अभाव हो तो रागादिक भी कैसे हों। यों सर्व पर और परभावोंसे रहित केवल निज शुद्ध चैतन्यमात्र मैं होऊँ, यह मनमें आना चाहिए। सब सोचते हैं कि मुझे क्या बनना है? सबकी अपनी-अपनी योग्यता स्थितिके अनुसार कल्पना बनती ही है कि हमें क्या बनना है? किसीके चित्तमें है कि हमें करोड़पति बनना है, लखपति बनना है, किसी के चित्तमें है कि हमें ऐसा विद्वान् बनना है। किसीके चित्तमें है कि हमें सब कुछ छोड़कर त्यागी बनना है। हर एकके चित्तमें कोई न कोई बात है बननेके सम्बन्धमें। तो यह दृष्टि जगे कि मुझे तो केवल निजस्वरूप मात्र रहना है। ऐसी स्थिति बने यही मेरी मूल इच्छा है।

कैवल्यकी रुचिसे आपदाओंमें अन्तर--केवल एक रहनेकी दृष्टिके जगने से बहुत-सी आपदाओंमें अन्तर आ जाता है। प्रथम तो इस देहमें प्रीति नहीं रहती। जब चित्तमें यह कार्यक्रम बस गया कि मुझे तो विदेह रहना है, देहसे विमुक्त केवल स्वरूपमात्र रहना है फिर देहसे प्रीति क्या? कभी इतनी भी बात मनमें आये कि यह जो देह है, अपने हाथ पैर पेट वगैरह हैं सो मरघटमें जलते हुए मुर्देको देखकर कि इस तरहसे जलकर यह खाक हो जायेगा। ऐसी बात इस देहके बारेमें चिन्तनमें आये तो उसी समय देख लो इस देहकी प्रीतिमें अन्तर आ जायेगा। जो जलकर खाक हो जायेगा उसे साज शृङ्गार परिणामसे क्या मतलब है? यह तो किसी दिन राख बनेगा। इस देहसे प्रीतिका न रहना और देहका ख्याल में न रहना केवल एक अपना स्वरूप ही उपयोगमें रहे ऐसी स्थिति बने, इस चिन्तनापर ज्ञानीपुरुषकी सफलता निर्भर है।

अनादिबन्धसम्बद्धो महामोहो हृदि स्थितः।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तिस्तेषामूर्द्ध्वं विशुद्धयति ॥२५५॥

महामोहके वमनसे विशुद्धि--अनादि कालसे बन्धनको प्राप्त हुआ यह महामोह हृदयमें स्थित है। देखिये मिलना जुलना कुछ नहीं, पर मोह छोड़नेकी कल्पना भी नहीं आती। करते जावो मोह, पर अन्तमें मिलेगा

क्या ? अरे क्या सम्बंध है ? सभी अपने अपने प्रदेशोंमें रहते हुए कल्पनाएँ करके क्षोभ मचा रहे हैं। कौनसा सम्बध ऐसा है, जिस सम्बन्धमें ये एक बन जायें ? पिता पुत्र, स्त्री पति ये एक बन जायें। कोई भी दो व्यक्ति बिल्कुल एक हो जायें, एकसा सुख दु:ख परिणमन करें, एकसी परिणति करें ऐसा कोई सम्बंध है क्या ? अरे यह तो सब कषायसे कषाय मिलने तककी मित्रता है। कोई भी हो जिसे कषायसे कषाय न मिले, आप कुछ चाहे, दूसरा कुछ चाहे, फिर वहाँ कोई सम्बध नहीं है। सम्बंध तो एक कल्पनामें बनाये हुए हैं। तो व्यर्थका यह महामोह बसा है, पर इस मोह से लाभ इस जीवको कुछ भी नहीं मिला है। जिन पुरुषोंने सम्यक्उपायसे, योगसे, शुद्धचिन्तवनसे इस मोहका वमन कर दिया, उनका ही ऊर्द्ध शुद्ध होता है, मायने परलोक विशुद्ध होता है।

मोहके विषयमें अपच व वमनकी स्थितिका दृष्टान्त—कोई दुश्पच, अपच, अजीर्ण भोजन उदरमे पड़ा हो तो एक तो वह भोजनका अंश हृदय तक आ जाता है तभी तो जी मिचलाता है। बहुत भीतर तक पड़ा रहे भोजन तो जी नहीं मिचलाता है और इस स्थितिमें ऊपरका जो अग है शिर, यह बहुत विकट दर्द करता है, तो ऊद्ध्र्व भी मलिन हो गया, पीड़ित हो गया। अब देखो यह मोह, दुश्पच, अजीर्ण, सड़ा भुसा जिसके हृदयमें स्थित हो गया ऐसे जीवका उद्ध्र्व मायने भावी समस्त समय मलिन हो गया। अब कोई उपाय ऐसा बनावें जिस उपायसे इस मोहका वमनकर दिया जाय तो यह ऊद्ध्र्व शुद्ध हो जायगा। भावीसमय, परलोक यह सब विशुद्ध हो जायगा। यह मोह वमनके लायक है। वमन किये बिना जैसे किसी कठिन रोगका इलाज नहीं है ऐसे ही यह मोहका राग ऐसा कठिन है कि इसका वमन किये बिना इलाज नहीं है। और वमन की हुई चीजको फिर कोई दुबारा खा लेता है क्या ? वह खानेके योग्य नहीं रहती। ऐसे ही यह मोह यदि वमन कर दिया जाय तो फिर यह ग्रहण करनेके योग्य नहीं है। कोई वमन किए हुए मोहको ग्रहण करे तो उस अविवेकी मूढ़ पुरुषकी तरह है जो वमन किये हुए अन्नको पुनः खाये।

महामोहके वमनमें ही श्रेय.सिद्धि—यह महामोह जो हृदयमें स्थित है, भले उपायसे सम्यक्ज्ञानके योगसे इसका वमन किया है जिन्होंने, उनका परलोक विशुद्ध होता है। जैसे औषधिके सम्बधसे पेटमें ठहरा हुआ अजीर्ण जिसने कै. कर दिया है, वमन कर दिया है उनके रोगकी निवृत्ति हुई है। ऐसा अजीर्ण जो कई दिनोंसे चल रहा है वह विशेष पीड़ा देता है और जो किसी कारणसे आज ही तुरन्त अजीर्ण हुआ है या कोई ऐसी

चीज गड़बड़ खानेमें आई हैं उतनी पीड़ा नहीं देती। कुछ जी मिचलाया, कै हो गया। जो १०-२० दिनसे अजीर्ण चला आया है, धीरे-धीरे आसक्तिसे पकवान खाये जा रहे हैं, खूब घी की बनी चीजें खा रहे हैं, थोड़ा पेट खराब हो गया फिर भी परवाह नहीं। आसक्तिसे खाते चले जा रहे हैं तो वह अजीर्ण कई दिनोंका जुड़ जाता है, तो जैसे ऐसे अजीर्ण का वमन करना ही श्रेयस्कर है और वह औषधिके योगसे दूर होता है। ऐसे ही इन विभावोंसे जो अनादिकालकी परम्परासे चले आ रहे हैं, इन विभावोंसे व्याप्त हुए जो कर्मविकार हैं अथवा महामोह है, इनको सम्यग्ज्ञानके योगसे, सम्यक् उपायसे, भेदविज्ञानसे वमन कर देना चाहिए।

एकैश्वर्यमिहैकतामभिमतावाप्तिं शरीरच्युतिं,
दुःखं दुष्कृतिनिष्कृतिं सुखमलं संसारसौख्योज्झनम्।
सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणव्ययं पश्यतां,
किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्य सदा साधवः ॥२५६॥

एकाकित्वमें चक्रवर्तित्वसे भी अधिक ऐश्वर्यका अनुभव—वे योगी संत क्यों दुःखी होंगे जिन्होंने अकेलेपनको ही चक्रवर्तीपना मान लिया है। जैसे कोई मनुष्य बहुत बड़ा राज्य चाहते है ना। सोचते हैं कि मैं चक्रवर्ती हो जाऊँ तो फिर क्या है? सबसे उत्कृष्ट हो जाऊँगा, और फिर हमारे आगे कुछ विपत्ति, कुछ हीनता न रहेगी। तो चक्रवर्ती होनेको लोग बड़ा मानते हैं, पर उन योगी संतोंकी बुद्धि तो देखो कि वे अकेले रहनेमें ही चक्रवर्ती जैसा आनन्द समझते हैं। इन योगीजनोंको वनमें भी अकेले रहनेमें आनन्द है।

साधु संतोंको प्रभुमिलनका अपूर्व अवसर—देहसे अकेला रहते हुए भी साधुसंतोंकी निगाहमें दो ऐसे परमशरण बने रहते हैं कि जिनसे बातचीतमें ऐसा समय निकल जाता है कि कुछ पता ही नहीं रहता। वे दो इनके साथ हैं, इन पर छाया किये हुए हैं। ये अकेले नहीं रहते, लेकिन लोगोंको लग रहा है कि ये अकेले रह रहे हैं। वे दो कौन हैं जिनकी छाया बनी रहती है इन एकाकी रहने वाले योगी पुरुषों पर? वे दो हैं बाहरका प्रभु और अन्तरका प्रभु। इन दो के साथ वे रह रहे हैं इसलिए निराकुल रहते हैं। बाह्य प्रभु अरहंत परमात्मा निकल परमात्मा शुद्ध केवलज्ञानी, रागद्वेष रहित निर्दोष चित्प्रकाशघन प्रभु उनकी दृष्टिमें है। उस एकाकी निवासके भीतर समय-समय पर गद्गद होकर प्रभुसे उनका मिलाप होता रहता है। तब जो आनन्द उन योगिराजोंको मिलता है उसकी मिशाल चक्रवर्तीसे भी क्या दी जा सकती है? ६ खण्डके जड़

पुद्‌गल सामने आ गये तो उससे इस आत्मामें कौनसा अन्तर आ जायेगा, कौनसी सुख शान्ति मिल जायेगी? और जब इस ही सम्पर्क योगसे अपने अन्दरके प्रभुकी सुध होती है और वह सुध होती है ज्ञानानुभवरूपमें, और तरहकी सुधका नाम सुध नहीं है। ज्ञानानुभूतिके उपायसे जब निज प्रभुकी सुध होती है उस समय तो उसकी दृष्टिमें अन्य कुछ बात ही नहीं है। केवल एक विशुद्ध आनन्दस्वरूप अनुभवन बना रहता है। ऐसा जिन्होंने अकेला बना रहनेको चक्रवर्तीपना मान लिया है अब उनको दुःख काहेका? वे तो सुखी ही हैं। लोकमें लोग इसको दुःख मानते हैं कि अभी हम माता पिता वाले हैं, स्त्री पुत्र वाले हैं, सब ठाठ है और रह जाय कभी अकेला या सबका वियोग हो जाय और वियोग होना तो अवश्यंभावी है, कभी हो, तो इस कल्पनामें लोग बड़ा दुःख अनुभव करते हैं। अकेले रह गए और जो बड़े बड़े सन्त हैं, योगी हैं, पुण्य आत्मा हैं, धर्मात्मा हैं वे तो अकेले रहनेको चक्रवर्तीकी तरह मानते हैं।

शरीरविनाशमें और दुःखमें अभिमतसिद्धि मानने वाले सन्त—जो पुरुष इस प्रकार रहने रूप ऐश्वर्यको एक बहुत बड़ी चक्रवर्ती जैसी सिद्धि समझते हैं और शरीरके विनाशको मनोवाञ्छित पदार्थकी प्राप्ति मानते हैं तो, कोई अब इनका क्या कर लेगा? कहते हैं ना कि जब किसी सुदृढ़ स्थितिमें हो जाय तो क्या उसका कोई पता लेगा? उसके कोई रोम भी ता नहीं उखाड़ सकता। हम तो इतनी दृढ़ स्थितिमें हैं। जिन्होंने ज्ञानबलसे अपने आपमें ऐसी भावना की है कि अकेले रहनेमें उन्हें आनन्द आता है और शरीरका विनाश होना हो तो उसमें किसी इष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो रही है, ऐसा समझते हैं। तो वे सुखी क्यों न होंगे? तो वे साधु सदा ही सुखी है और सुन लीजिए। दुःख आये तो उसे मानते हैं कि हमारे दुष्कर्मकी निर्जरा हुई है, हम भाररहित हो रहे हैं, कर्जा चुका रहे हैं इस प्रकार जो अपनेको निर्भार समझते हैं दुःख आने पर वे क्यों न सुखी होंगे?

सांसारिक सुख त्यागमें सुख मानने वालोंके सुखकी निःसन्देहता—जो संसारके सुखोंका त्याग कर देनेमें सुख समझते हैं वे विवेकीजन हैं। जिनके कल्पनाओंका आश्रय दूर हो गया उन्हें विकल्पोंसे रहित होनेका मौका मिल गया। यों सुनकर तो कहो कोई कोई गाली दे दे कि यह तो तुम असगुनकी बात करते हो। अरे असगुन क्या है? और सगुन क्या है? जिसमें अपने आत्माको सुख हो वह तो सगुन है और जिसमें आत्मा को सुख न हो वह असगुन है। तभी तो रास्तेमें कोई मुर्दा दिख जाय तो

उसे सगुन माना है; क्योंकि उसको देखकर अपने आत्माको कुछ सुख तो होती ही है। कोई जलसे भरा हुआ घड़ा लिए जा रहा हो तो लोग उसे सगुन मानते हैं। वह सगुन किस बातका है ? वह जलयुक्त घड़ा इस बात को सूचित करता है कि जैसे इसके भीतर जल ठसाठस भरा है, घन है, ऐसे ही यह आत्मा ज्ञान और आनन्दसे ठसाठस भरा हुआ है, सघन है। इस बातको सूचित करता है वह जलयुक्त घड़ा तब उसे सगुन माना गया है। सांसारिक सुख त्याग तो सगुन है। सांसारिक सुखके त्यागमें सुख माननेवालोंको कहा दुःख है ?

परसचयको प्राणत्याग माननेवालोंके आनन्दकी निःसन्देहता—जिन्होंने सांसारिक सुखोंके त्यागमें सुख माना है और सर्वत्याग हो जाय तो उसका समारोह मनाते हैं और परवस्तुवोंके संग्रहको प्राणत्याग समझते हैं ऐसी दृष्टि जिनकी है उनको ऐसा कौनसा पदार्थ है जो सुखमें निमित्त न होगा ? वही चीज दृष्टिके बदलनेपर सुखका कारण हो जाती। इस कारण साधुमहाराज सदा सुखी ही रहते हैं यह बात पूर्ण सत्य है।

आकृष्योग्रतपोबलैरुदयगोपुच्छं यदा नीयते,
तत्कर्म स्वयमागतं यदि विदः को नाम खेदस्तत।
यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोरि स्वय,
वृद्धि. प्रत्युत नेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे क. क्षयः ॥२५७॥

क्लेशमें भी आनन्दधामकी दृष्टि—साधुजन अन्तरङ्ग ज्ञानरूप तपश्चरणके द्वारा आगेकी स्थितिमें पड़े हुए कर्मोंको खींचकर बहुत उदयमें लाकर खिराया करते हैं, तब हे साधु ! यदि कोई कर्म स्वयं ही उदयमें आये हों तो उसमे खेद काहेका ? कर्म उदयमें आते हैं खिरने के लिए। कोई पूर्वभवका पाप कर्म उदयमें आया है जिससे कोई उपसर्ग व्याधि उपद्रव हो रहे हों ऐसी स्थितिके लिये आचार्यदेव समझा रहे हैं कि देखो ये कर्म जो तपश्चरण करके पाप उदयमें लाकर खिरानेको थे अथवा संतजन खिराया करते हैं वे कर्म यदि स्वय ही उदयमें आ गये तो इसमें खेद की क्या बात है ? जैसे किसी शत्रुको जीतनेकी इच्छा हो तो चाहता तो यह नहीं कि यह राजा स्वयं उस शत्रु राजा पर आक्रमण करे और उसे जीते। यदि कदाचित् वही शत्रु दुर्वृत्तिसे स्वयं ही इससे लड़नेको आया है तो वह राजा सोचता है कि जिसको जीतनेके लिए हमें जाना था वह स्वय ही आ गया है तो यह तो सुगमताकी ही बात हुई। ऐसे ही जो कर्म तपश्चरणसे पहिले उदयमें लाकर पूर्व स्थितिमें लाकर खिरने चाहिएँ थे वे कर्म यदि स्वय खिरनेके लिये आये हैं तो हे साधु ! तू इसमे खेद ने मत

कर, प्रसन्नताका अनुभव कर।

प्रकृतिस्थितिक्षरण—कर्मोंके खिरनेकी पद्धति ऐसी होती है कि जैसे आगामी कालकी स्थिति जिनके पड़ी है वे कर्म सारे नहीं किन्तु उनमेंसे कुछ निषेकवर्गणायें निकलकर छोटी स्थिति वाले निषेकोंमें मिल जाया करते हैं। कुछ निकलना नहीं है। आत्मामें जहाँ कर्म पड़े हैं, केवल एक उन कर्मोंमें स्थिति घात हो जाता है। जीव तो अपने निर्मल परिणाम करता है। अनेकों जीवोंको तो खबर भी नहीं रहती कि मैं क्या कर रहा हू और कर्म कैसे खिर रहे हैं। ये साधुजन तो अपने निर्मल परिणामके अनुभवनमें रहते हैं। कर्म स्वयं अपने आप उथलपुथल मचाकर अपनी स्थितिसे निषेकोंमें मिलकर खिर जाया करते हैं। किसी विपदामें उपसर्गमें आये हुए मुनिका कर्तव्य है कि वह ऐसा जानकर संतोष करे कि जो काम मुझे तपस्यासे करना था वह स्वयमेव ही हो रहा है।

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वं सहत्वात्,
भ्रान्त्याऽचिन्त्याः सहाय तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जाः।
सज्जीभूताः स्वकार्ये तदपगमविधि बद्धपल्यङ्कबन्धा,
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहाः॥२५८॥

नृसिंहोंका एकान्तनिवास—नरसिंह पुरुष अर्थात् मनुष्योंमें श्रेष्ठ साधुजन वैसे एकान्तमें रत रहकर प्रसन्न रहा करते हैं, इन साधुजनोंका नाम है नरसिंह अथवा नृसिंह। सिंहका अर्थ सिंह पशु नहीं है। सिंहका अर्थ है श्रेष्ठ। जैसे कुछ लोग सिंहासनका अर्थ समझते हैं सिंहका आसन। सो जब वे सिंहासन बनाते हैं तो उसमें सिंहका चित्र बनाते हैं। किन्तु सिंहका अर्थ है श्रेष्ठ। वे नरश्रेष्ठ पुरुष गहन वनमें एकान्तस्थानमें ठहर कर आत्मस्वरूपका ध्यान करते हैं। जितना अधिक एकाकित्व मिले और अकेले रहनेमें मन लग जाय, प्रसन्नता रहे, ऐसी स्थिति बन जाय तो यह उसके बहुत अच्छे भवितव्यकी बात है।

एकाकित्वके उत्साहहीनोंकी उन्नतिका अनवसर—जो लोग इतने कातर हैं कि अकेले मन नहीं लगता, दूसरा तीसरा बात करनेको हो, न हो कोई घरमें तो एक कुत्ता ही पाल लेते हैं, वह बैठा रहे, मन तो लगेगा। कितने ही लोग इसीलिए कुत्ता पालते हैं कि मन लगा रहेगा। और उसे अपने पलंगपर बैठाते, अपने शिरपर चढ़ा लेते, ऐसा प्रेम दिखाते जैसे कोई बन्धुवोंसे प्रेम दिखाते हैं। अकेले रहनेमें जिसका मन नहीं लग सकता वह मोक्षमार्गमें क्या चलेगा? वह मोक्षमार्गमें अनुत्साही जीव है, प्रमत्त जीव है। अपनेको ऐसा ज्ञानमें डालना चाहिए कि अकेले रहनेमें मन लग

जाय। जीवनमें अनेक विचित्र परिस्थितियाँ आती हैं। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग है। जिसका भी संयोग हुआ है पूर्ण निश्चित है कि उनका वियोग नियमसे होगा, कभी हो, किसी प्रकार हो। तो वियोगके कालमें संतोष और समता वही धारण कर सकता है जिसने अकेले रहनेमें संतोष और शान्ति पानेका अभ्यास किया है, यह खास बात है।

एकाकित्वके अभ्यासकी आवश्यकता—अपने जीवनमें शान्ति और धर्मविकास उत्पन्न करनेके लिए यह आवश्यक है कि एकाकी रहनेमें चित्त लग जाय और अकेले रहनेमें चित्त लगे, इसका उपाय यही है कि पहिले तो दूसरेके बिना मन न लगता हो तो इस ही निजमें एक दूसरा बना लेवे। कहने वाला एक वही और इसीको कहने लगे। जैसे कोई अपने आपको ही शिक्षा दिया करता है— अब तुम क्या करोगे, तुम्हें क्या करना है? तो यही मैं और तुम दोनों बन जायें। इन दोनोंमें कहने वाला उपयोग और जिसको कहा जाय वह है चैतन्यस्वभाव। बस दो बन गए। अब मन क्यों न लगे? कहने वाला है उपयोग और कहा जा रहा है चिद्ब्रह्मसे। और अब कुछ अकेले रहनेका अभ्यास बन जाय तो यह मैं तू भी खत्म कर दे। इस अखण्ड आत्मामें रत होकर इस द्विविधाको मिटा दे और खुदमें समाता हुआ आनन्दका अनुभव किया करे। वे मनुष्य श्रेष्ठ ज्ञानी सतजन एकान्तस्थानमें ठहर करके आत्मस्वरूपका ध्यान करते हैं। जिन्होंने मोहका नाश किया है, अकेले रहनेकी जिनकी प्रतिज्ञा है, सर्व कुछ साधन छोड़कर जो समस्त परिषहोंको सहन करते हैं, ऐसे नृसिंह पुरुष आत्मस्वरूपके ध्यानमें सफल हुआ करते हैं।

एकाकित्वके अभावमें क्षोभ—भैया! जितना अकेलेकी ओर झुका जाय उतना सन्तोष और आनन्द है और जितना किसी दूसरेकी ओर झुका जाय, चाहे वे आपके घरके बधे हुए ही लोग हों, स्त्री हो या पुत्र हो, पर जैसी पद्धति है, जो स्वभाव है वह जायेगा कहाँ? यह उपयोग किसी दूसरे जीवकी ओर झुकता है तो झुकते हुए क्षोभ उत्पन्न होता है, और फिर वे दूसरे जीव आपकी इच्छाके अनुकूल न परिणमें तो फिर उससे आपको और भी अधिक क्लेश पहुचता है। प्रथम तो किसकी ओर यह चित्त झुके वह आपके सर्वप्रकारसे निमित्त हो तो भी चूँकि उपयोग अपने अभिन्न आधार निजस्थानको छोड़कर किसी परकी ओर गया तो इस पद्धतिमें ही क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। ज्ञानी संतपुरुष एकाकी रहकर आत्मध्यान किया करते हैं।

नृसिंहोंकी निःस्पृहता—ये नृसिंह जिनकी महिमा अचिन्त्य है, कभी

थोड़ा ऐसा भी निरख लेते हैं कि यह शरीर हमारे संयमका साधक बन रहा है। बल है, स्वच्छ मन है, आत्माकी ओर चित्त एकाग्र हो जाता है, तपश्चरण भी कर रहे हैं, यह शरीर हमारे संयममें साधक हो रहा है ऐसा जाने और थोड़ी ही देर बाद और आगे इस देहमें उपयोग गया, यह जड़ शरीर कैसे मेरे हितका साधक है, ऐसा जानकर तुरन्त सलज्ज हो जाते हैं, कितनी स्वच्छ स्थिति है इन साधु संतोंकी? ये सब काम अपने आपमें अकेलेमें कर रहे हैं। कैसी चित्तवृत्ति बनी है, कैसा शरीर से भी निष्पृह है और शरीरसे कितना वे काम लिया करते हैं, इन दोनों बातोंका इस योगमें मिश्रण हो गया है। इस शरीरसे तपस्याका बहुत काम लेते हैं और काम लेते हुए थोड़ा चित्त इस ओर गया कि इस शरीर का सदुपयोग कर रहे हैं, यह हमारे संयमका साधक हो रहा है, विचार पूरी तरहसे कर भी न पाया कि तुरन्त अरे यह जड़ शरीर, इसके प्रति मेरा ऐसा विचार हो रहा है, यह मेरा क्या सहाई है, यों विचार कर कुछ लज्जित होकर फिर शरीरसे स्पृहा त्यागकर अपने कार्यमें उद्यमी होते हैं।

छेदोपस्थापनाके स्वरूपविषयक एक जिज्ञासा—यही काम करने को तो पड़ा है साधुवोंको आत्मचिन्तन करना, योग्य विचार बनाना और थोड़ा सा चिगे फिर अपने आपकी ओर लग जाते हैं। संयममार्गणामें दो संयम हैं—सामायिक और छेदोपस्थापना। सामायिकका अर्थ लोग लगाते हैं अपने संयममें संतुष्ट रहना, समताभाव धारण करना और छेदोपस्थापना का यह अर्थ है कि किसी व्रतमें कोई दोष लग जाय तो प्रायश्चित्त लेकर फिर पहिलेकी तरह उस निर्दोष संयममें लग जाना, ऐसा अर्थ लोग प्रसिद्ध करते हैं, यह भी मोटेरूपसे है एक सीधे अर्थसे सम्बन्ध रखनेके कारण, पर इन दोनोंका सही मर्म क्या है? क्या ७वें ८वें ९वें गुणस्थानमें व्रत भंग हुआ करता है? क्या वहाँ फिर प्रायश्चित्त लेकर उसमें लगा करते हैं? यदि श्रेणियोंमें ऐसा न करें तो छेदोपस्थापना फिर श्रेणीमें न कहना चाहिए। ९ वें गुणस्थान तक छेदोपस्थापना कहने का मर्म क्या है? उसका जो एक स्थूल अर्थ किया है उसका काम तो छठे गुणस्थानमें है। व्रत भंग हुआ, प्रायश्चित्त लिया, फिर उसमें लग गये।

सामायिक व छेदोपस्थापनाका अन्तर्योग—ये सामायिक और छेदोपस्थापनाऐसे सहयोगी हैं इनकी वृत्ति जल्दी जल्दी अदल बदल होती रहती है ये सामायिक छेदोपस्थापना ९ वें गुणस्थान तक चलते हैं। किस तरह? एक निर्विकल्प भावमें थोड़ी देरको रहे कि कोई विकल्प उत्पन्न हो गया, फिर निर्विकल्पमें आये तो कई प्रकारका भेद विकल्प उत्पन्न होनेके बाद

फिर उस निर्विकल्प स्थितिमें पहुचना—इसका नाम छेदोपस्थापना है, और यह बात ९वें गुणस्थान तक होती रहती है। यद्यपि मोटे रूपसे विकल्प ८वें गुणस्थानमे भी नहीं है जिन्हें विकल्प लगा, समझ लो कि वे समता से चिग गए हैं, फिर समतामें लगें इतना भी विकल्पोंका अवकाश नहीं है, किन्तु वहाँ स्वयमेव ही ऐसा हो रहा है कि अभी निर्विकल्पताकी स्थिति है और किसी प्रकारका अव्यक्त विकल्प होने पर फिर निर्विकल्पमें आ गये। भेदविकल्प उत्पन्न होने पर फिर निर्विकल्पमें लगनेका नाम छेदोपस्थापना है।

साधुजनोंकी अन्तर्वृष्टि—जहाँ आत्मरतिके लिये आत्मवृत्ति जग रही हो ऐसे साधु सतोंको शरीरमें दृष्टि लगे, यह तो उनके लिए लज्जाकी बात है, और कदाचित् ऐसा विकल्प बने तो इस बात पर वे खेदखिन्न हो जाते हैं, मैं क्या सोच रहा हूं, यह शरीर कहाँ मेरे सयमका साधक है, यह जड़ क्या साधक है? मेरा भाव ही संयमका साधक है, ऐसा जानकर फिर वे अपने कार्यमें लग जाते हैं? काम सब लिया जा रहा है शरीरसे, पर झुकाव, प्रोग्राम चर्या ये सब अपने आपके आत्मामे हो रहे हैं। जैसे कोई पुरुष किसी विरोधीके द्वारा कोई अपवाद उठाया जाने पर उसकी भी उपेक्षा करता है, मानो इसको पढ़ा ही नहीं, सुना ही नहीं। यदि वे किसीके आक्षेपका उत्तर देने लगें तो इससे यह साबित हो जाता है कि दूसरेका आक्षेप कुछ बलशाली है। ऐसे ही ये साधु संतजन शरीर साधक हैं, सहाई हैं। धर्मका साधक है इन बातोंमें नहीं पड़ते। इन बातोंमें पड़ने का अर्थ यह हो जायेगा कि सचमुच इस शरीरका बड़ा मूल्य है। काम हो रहा है, यही पर एक अन्तर्दृष्टिकी बात है।

साधुओंकी विविक्तत्वमति—ये साधु पद्मासनसे निश्चल बैठकर निज-स्वरूपका ध्यान कर रहे हैं। शरीरसे यह मैं आत्मा कैसे रहित हो जाऊँ इस विधिका उनके विचार चला करता है। मुझे शरीर न चाहिए, शरीर मेरे उदयमें न आये। मैं तो अपने स्वरूपमें स्वय जैसा हू उस रूपमें रहना चाहता हू। मैं मुझे किसी अन्य परतत्त्वोंसे प्रयोजन नहीं है, ऐसा जिनका चिन्तन है और इस शरीरमें अनास्था करके शरीरके छोड़नेके उद्यमी हैं ऐसे साधु संत पुरुष एकाकी निर्जन वनमें रहकर आत्माका ध्यान किया करते हैं।

येषां भूषणमङ्गसङ्गतरजाः स्थानं शिलायास्तलं,
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम्।

आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयश्च्युटृत्तमोग्रन्थय—
स्ते नो ज्ञानधना मनासि पुनता मुक्तिस्पृहा निःस्पृहाः ॥२५६॥

साधुवोंका शृङ्गार व स्थान—ऐसे साधुजन जिनको मुक्तिकी वाञ्छा लगी है वे अन्य समस्त परभावोंकी स्पृहासे रहित हैं। ज्ञान ही जिनका धन है अथवा जो ज्ञानधनसे परिपूर्ण हैं ऐसे साधुजन मेरे मनको पवित्र करें। ये साधु पुरुष कैसे हैं? इनका भूषण इनका गहना इनका शृङ्गार शरीरमें लगी हुई धूल है। साधुवोंको स्नान वर्जित है और उनके शरीरपर बहुत मल चढ जाता है। धूलसे लिपट गये, पर ऐसा धूल भरा शरीर साधुवोंका शृङ्गार है। लोगोंकी दृष्टिमें इस भूषणसे उनका बड़ा महत्त्व जंचता है। इन साधु पुरुषोंका स्थान है शिलाके नीचेका भाग, वे साधुजन उन गुफावों में विराजते हैं, वही उनकी बैठक है, जैसे कि गृहस्थ लोग अपनी बैठक बनवा कर रहा करते हैं। साधु पुरुषोंका शय्यास्थान है कंकरीली पथरीली जमीन। जैसे गृहस्थ लोगोंका शय्यास्थान पलग है ऐसे ही साधुजनोंका शय्यास्थान कंकराली भूमि है।

साधुवोंका गृह—साधु संतोंका घर है वे गुफायें जिनके निकट क्रूर हिंसक जानवर भी विचरा करते हैं। देखिये वे साधुजन निर्भय हैं। शायद ही सैकड़ों मुनियोंमें एक मुनि कभी किसी सिंह द्वारा खा लिया जाता हो, पर प्राय ९९ प्रतिशत मुनि सुरक्षित रहते हैं। उन साधुजनोंकी शान्ति और उनके रहनसहनको निरखकर वे सिंहादिक क्रूर जानवर भी उनके भक्त बन जाते हैं, अथवा उनके परिजन जैसे बन जाते हैं। मन तो उन जानवरोंके भी है। तो जिन साधु संतोंका घर क्रूर पशुवोंसे घिरी हुई गुफा आदिक हैं ऐसे संत पुरुष परके प्रति ममता बुद्धिसे रहित हैं। ये शरीरादिक मेरे हैं और मैं इनका हू, ऐसे विकल्पोंका जहा अवकाश ही नहीं है। जिनकी अज्ञानरूपी गाठ टूट गयी है, जो ज्ञानप्रकाशसे सदा प्रमुदित रहा करते हैं ऐसे साधुजन मेरे मनको पवित्र करो। अर्थात् उन साधुवोंके गुणोंका मेरे उपयोगमें निवास रहे, जिनके स्मरणसे, जिनके चिन्तनसे हम अपने मनको पवित्र बनाये रहें।

निर्मलसगतिसे निर्मलताका अभ्युदय—भैया! मनमें मोही जीव बसेंगे तो मन मलिन होता है और मनमें निर्मल निर्मोह साधुसतोंके गुणोंका स्वरूप बसा रहेगा तो यह मन उज्ज्वल रहेगा। मनकी मलिनतासे इस जीवको कोई लाभ नहीं होता और मनकी स्वच्छतासे जो वृत्ति बनती है उसका नाम स्वस्थ है। और उस स्वस्थताने प्रसन्नता है। ही प्रसन्नताका भी अर्थ निराकुलता है। लोग पूछते हैं कि कहो भाई आपका स्वास्थ्य कैसा

है ? तो वह उत्तर उल्टा देता है कि हमारी तबियत ठीक है। वे पूछ रहे हैं तुम आत्मामें ठहरते हो कि नहीं ? तो यह उत्तर देता है कि इस जड़ शरीर में लगे रहते हैं। कोई पूछता है कि कहो भाई आप प्रसन्न तो हैं ? तो वह उत्तर देता है, हां खूब प्रसन्नता है, लड़के बच्चे सब अच्छे हैं। लो उसने तो पूछा कि तुम्हारेमें निर्मलता है ? वह उत्तर देता है उल्टा— मैं खूब मोहमें लिपटा रहता हूं। अरे मनमें निर्मोह साधुसंतोंके गुण बसें तो मन पवित्र होगा। ऐसी भावना करें— गुणीजनोंको देखकर मेरे चित्तमें अनुराग उमड़ आये। जो साधु संतजन निर्मोह बनकर गुफावों कंदरावोंमें निवास करते हैं उनके स्मरणसे मन उज्ज्वल तथा मनमें ही वास्तविक आनन्द प्रकट होता है।

दूरारूढतपोऽनुभावजनितज्योतिःसमुत्सर्पणैः—
रन्तस्तत्त्वमदः कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गत ।
विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने,
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितैर्धीराश्चिरं वासरान् ॥२६०॥

साधुवोंकी दृढता— जिनके सातिशय तपश्चरणके प्रभावसे ज्ञानज्योति विकसित हुई है इस विकसित ज्ञानज्योतिसे ये साधुजन अपने आत्मतत्त्व को कैसे न प्राप्त होंगे ? इस आत्मतत्त्वको पाकर वे योगी आनन्दमग्न रहा करते हैं, शुद्ध सहजविश्रामको प्राप्त करते हैं। कैसी परमविश्रांति है उनके कि यह अन्तरङ्ग शान्त परिणाम बाहर भी विकसित हो गया है जिसको निरखकर जंगलके हिरण पशु बड़ा विश्वास पाकर उनके निकट निर्भय बैठे रहा करते हैं। और कभी-कभी तो उन साधुवोंको एक ठूठ अथवा पत्थर जैसा मानकर हिरण अपनी खाज भी खुजाने लगते हैं। ऐसे साधु पुरुषोंको एकाकी निवाससे प्रेम है।

साधुवोंकी उपेक्षावृत्ति—जो आत्मकल्याणार्थी पुरुष हैं वे नियमसे एक अपने अकेलेपनकी रुचि रखा करते हैं। कभी किसी परिस्थितिवश किसी अन्यसे बोलना पड़ता है, पर बोलते हुए भी वे वहां बोलते नहीं हैं। परिस्थितियोंमें यत्र तत्र जाना पड़ता है पर जाते हुए भी ये अध्यात्म योगी संत कहीं नहीं जा रहे हैं। वे अन्य पदार्थोंको देखते भी हैं पर देखने पर भी किन्हीं वस्तुवोंको नहीं देखते हैं, ऐसे एकाकित्वकी रुचि जग जाती है कल्याणार्थी पुरुषोंमें। धन्य है वे, जो अपने स्वरूपमें मग्न होकर परमशान्त दशाको प्राप्त हुए हैं। वनके जीव भी ऐसे संतोंसे भय नहीं करते हैं।

महापुरुषोंका अन्तिम कार्य—देखो भैया ! बड़े बड़े महापुरुषोंने बड़ी

बड़ी संपदावोंको त्यागकर अन्तमें अपने आपके स्वरूपका शरण ग्रहण किया है। जो बुद्धि अन्तमें होती है वह बुद्धि परिष्कृत होती है। जैसे व्यापारके सम्बन्धमें या किसी भी व्यवस्थाके सम्बन्धमें जब बहुत दिन गुजर जाते हैं और अनेक उपाय, अनेक कार्य, यह इतना कमजोर है, यह ठीक है इन सब घटनावोंके गुजरनेके बाद जो अन्तिम अनुभव होता है वह उस सम्बन्धमें परिष्कृत अनुभव है, ऐसे ही एक महापुरुषके जीवनमें बचपनमें क्या घटना हुई? युवावस्थामें क्या घटना हुई और अन्तमें सब में लग-लग कर भी सबको अलग करना पड़ा। जो अन्तिम बुद्धि होती है वह सारभूत बुद्धि मानी जाती है। महापुरुष खेले कूदे भी होंगे अपने बचपनमें और उन्होंने अपने बलके समयमें बडे-बडे पराक्रम भी किये हैं, साम्राज्य, भोगे हैं, देशपर हुकूमत भी जमायी है, बडे बड़े वैभवोंके सुख भी भोगे हैं पर आखिर समग्र समागम पर हैं, अतः उनसे शान्ति उन्हें कहां मिल सकी थी और अन्तमें वे सम्यग्ज्ञानके प्रकाशमें यही निर्णय कर गये और ऐसा ही प्रयत्न किया। उन्होंने सर्वका परिहार करके एक अपनी आत्मसाधनामें धुन लगायी।

हितकर्तव्यकी भावना—जो कृत्य मुनि करते हैं उस कार्यसे प्रेम हो तो उस श्रावकका नाम श्रावक है। कर नहीं सकते, परिस्थिति अन्य है यह बात तो दूसरी है, पर मुनिके करने योग्य कामकी रुचि न हो गृहस्थावस्था मे तो उसको उपासक नहीं कहा गया है। वास्तविक मायनेमें उसे श्रावक नहीं कहा गया है अथवा किसी ने भी किया यह तो एक कल्याणकी बात है।

येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तर,
गत्वोच्चैरविधाय भेदमनयोरारान्न विश्राम्यति।
यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनैर्बाढ बहिर्व्याप्तय—
स्तेषां नोत्र पवित्रयन्तु परमा पादोत्थिता॰ पाशवः॥२६१॥

साधुजनोंका अभिनन्द—जिनकी बुद्धि आशा और अन्तस्तत्त्व, इनके अन्तरमें बहुत गम्भीरतासे प्रवेश कर चुकी है अर्थात् विभाव और स्वभावका अन्तर जिनकी बुद्धिमें अति स्पष्ट हो गया है वे सत्पुरुष अथवा उनके चरणकमल हम लोगोंको पवित्र करें। यह बात गुणभद्रस्वामी आचार्यदेव कह रहे हैं। और इस ग्रन्थमें इससे पहिले बहुत-बहुत वर्णन सुना होगा, जिसमें ऐसा लगता है कि उनके सम्बोधनके रूपसे साधुवोंको उनकी हीन क्रियाओं पर जगह-जगह लथेड़ा है। उन्हें जैसा चाहे कहा है। अब जैसे ग्रन्थकी आदिमें साधुजनोंको अभिनन्द किया था, ऐसे ही अब

ग्रन्थ समाप्तिके समयमें साधुपुरुषों का बड़ा गुणानुराग अभिनन्दन और अपना भाव प्रदर्शन कर रहे हैं। बीचका वह सारा कथन भी बड़ी हित भरी दृष्टिसे था, तभी तो सर्वप्रकार सत्सग सेवा करके अन्तमें साधुजनों से इतना विनम्र विनय कर रहे हैं ये आचार्यदेव कि उनका धन्यवाद उनके चरणकमलकी धूलसे अपने आपको पवित्र मानें, ये सब बातें अब कही जा रही हैं।

भेदविज्ञानी संतोकी शान्तिवृत्ति—विभाव और आत्मतत्त्वका भेद अलख है अथवा साधारण जीव इस विभाव और स्वभावका भेद नहीं कर सकता है। उनका भेद इन संतोंके नितान्त स्पष्ट हो गया है। इन सत पुरुषोंका शान्त परिणाम ही धन है। बाह्य पदार्थोंमें जिनकी चित्तवृत्ति पहिले दौड़ा करती थी, अब अपने अंतरङ्गमें ही जिनकी चित्तवृत्ति जगी है ऐसे साधुसतोंके चरण कमलकी परमरज इस लोकमें किसको पवित्र नहीं करती ? सब ही को पवित्र करती है। हम तुम सबको भी पवित्र करे। जहाँ परिणामोंमें प्रसन्नता है, चित्तमें प्रासाद है, कितने भाव शान्त हो रहे हैं, निर्विकार निज ज्ञायक स्वरूपके अनुभवके लिए उमग जग रही है ऐसी स्थिति जिनके सत्संगसे जिनके चरणोंकी सेवासे प्राप्त होती है उन पुरुषोंका कितना आभार मुमुक्षु मानते हैं उसकी कोई मिसाल लोकमें हो नहीं सकती। इस जगतमें जो जिसका जो कुछ उपयोग करता है वह सब एक मायापूर्ण है, किन्तु ससारके सकटोंसे सदाके लिए छुटा देनेका उपाय जिन संतोंके उपदेशसे प्राप्त होता है उनके प्रति एक एक सत्य पुरुष कितना बहुविनयसे झुक जाता है। ऐसा सद्विनय अन्यत्र कहाँ हो सकता है ?

सतोंकी निर्मल चर्या—जड़ और चेतनका अनादिकालसे परम्परा सम्बन्ध है। यह देह और जीव, कर्म और जीव एकसे होकर मिल रहे हैं। जो इन दोनोंमें भेदविज्ञान करते हैं वे महापुरुष हैं और वे जड़ पदार्थोंसे निर्ममत्व होकर जगतकी आशाका परित्याग करके एक अपने आपमें सहज विश्राम लेते हैं, जो ऐसे हुए हैं उनके चरणकमलकी रज जीवको पवित्र करती है। अब इसी पचमकालमें जो आचार्य महोदय हुए हैं, जिनमें कुछ प्रधान ऋषिराज समतभद्र, अकलंक, विद्यानन्दी, जिनसेन इन सबके कुछ चरित्रको सुनो तो यह उपयोग गृह मायाजालमें जो आसक्त होकर फँस रहा है उस उपयोगमें प्रकाश आ जायेगा और मालूम होगा कि हमें अपना नेह किस ओर लगाना चाहिए।

समतभद्राचार्यका आन्तरिक वैशद्य—समंतभद्रस्वामीका ज्ञान कितना निर्मल है कि इसे बतानेको कोई शब्द नहीं हैं। उनकी कृतियोंको पढ़ने

वाले, उनकी कृतियोंके जानकार ज्यों ज्यों अधिक होते जाते हैं त्यों त्यों उनकी गहराई उन्हें विदित होती है। जिनके आप्तमीमांसा जैसी बड़ी दार्शनिक कृतियां उनके ज्ञानका अंदाज कराती है और वे चारित्रके ऐसे निर्मल कि जिस समय उनके भस्मव्याधि होने लगी, बहुत खाये और घंटेभरमें पच जाय, बहुत व्याधि हुई उस समय उन्होंने समाधि ग्रहण करनेकी प्रार्थना अपने गुरुसे की। उस समय सब ऋषि संतोंकी निगाह एक समन्तभद्रको आज्ञा दी कि तुम जिस किसी भी प्रकार बनकर भस्मव्याधि मेटो। तुम्हें समाधि न दी जायगी। तुमसा ज्ञानी तुमसा समर्थ यहाँ और कौन है। इस आज्ञाको सुनकर समन्तभद्रपर क्या बीती, सो उन्हें अभीष्ट न था उसे भी उन्हें करना पड़ा। भस्मव्याधि किसी प्रकार मिटे। बड़े पुरुष किसी भी स्थितिमें जायें वहाँ भी चमत्कार दिखा देते हैं। मुनिपद छोड़कर खूब खाया पिया तब उनकी व्याधि मिटी। अन्तमें जब उन्हें दोष लगाया राजाने तो यह हुक्म दिया कि तुम्हें हमारे देवको नमस्कार करना होगा। पर समंतभद्र बोले-- महाराज यह मत करो, आपका देव हमारा नमस्कार झेल नहीं सकेगा। हुआ ऐसा ही, उस पाषाणसे जिनेन्द्र प्रतिमा प्रकट हुई जब उन्होंने नमस्कार किया।

अकलङ्क व विद्यानन्दी स्वामीका हार्द--अकलंकस्वामीका सब चरित्र जानते हैं। जिन्होंने अपनी आखों देखते प्रिय भाई निकलंकदेवको बलि होनेके लिए स्वीकार पड़ा, और जिस किसी भी प्रकार रहकर धर्म उद्धारके लिए प्राण बचाया। उनके ग्रन्थोंका जो अध्ययन करते हैं भक्ति उनके प्रकट होगी। विद्यानन्दस्वामी जैनधर्मके अत्यन्तद्वेषी, ५०० शिष्योंके गुरु सर्वदर्शनोंके ज्ञाता थे। रास्तेमें जो जिन मन्दिर मिले तो मुख मोड़कर नाक सिकोड़कर चला जाय। आखिर एक दिन मनमें आया कि जिस मन्दिरसे हम द्वेष करते हैं आखिर देखें तो उसके भीतर है क्या? यों ही लोकरुढिसे और अपने पुरुखोंके कहनेसे ऐसा क्यों करते जा रहे हैं? मंदिरके भीतर गये तो देखा कि एक मुनि बैठे हैं और वह पढ रहे हैं आप्तमीमांसा जो समंतभद्रकी कृति है। विद्वान् तो थे ही। अर्थ समझमें आ गया। वह दार्शनिक तत्त्वोंसे भरा हुआ स्तोत्र था। विद्यानन्दीने मुनिसे कहा-- महाराज इसका कुछ अर्थ तो बतावो। वे मुनि अधिक विद्वान न थे। सो सीधे सरलतासे कह दिया कि भाई हम अधिक जानते नहीं हैं, हम अर्थ नहीं समझा सकते। लो इसका भी प्रभाव पड़ा, इतनी सरलता। कहा महाराज फिरसे सुना दीजिए। सुनाया तो श्रद्धा एकदम बढ गई। ओह! तत्त्व तो यह है। उसकी सिद्धि स्याद्वादसे ही है। बस उनके जीवनका पन्ना पलट

गया। दूसरे दिन राजसभामें जहां व्याख्यान होता था, व्याख्यान करने खडे हुए तो उनकी शैली ही बदली हुई थी। सभी विद्वान अचरज करने लगे कि क्या हो गया इनके। बादमें विद्यानन्दजीने कहा— तत्त्व यही है और इसकी सिद्धिका उपाय स्याद्वाद है। जिन्हें कोई शका हो तो वे हमसे बात करें, हम उन्हें समाधान देंगे। आखिर अन्तमें उनका मन ऐसा हो गया कि सब कुछ छोड़कर दैगम्बरी दीक्षा धारण की। उनकी बनायी हुई यह अष्टसहस्री है। जिसे कहते हैं कि जिन्होने अष्ट सहस्री सुन लिया उनको अन्य कुछ सुननेसे क्या प्रयोजन। कुछ विद्वान लोग भक्तिमें इसे कष्टसहस्री बोलते हैं। कितनी क्लिष्ट है उसकी रचनाएं और दार्शनिकतासे भरी। अब सोच लीजिए स्त्री, बच्चे और घरके लोग, कुटुम्बी जन, नाते रिश्तेदार वगैरहकी रुचिमें मिलेगा क्या? साधु सतोंकी चरण रज हम सबको पवित्र करे।

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभम्,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःख सुखं वागतम्।
कुर्याद्यः शुभमेव साप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये ॥
सर्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥२६२॥

आत्मपौरुषीकी वन्द्यता—इस जीवने पूर्वजन्ममें शुभ अथवा अशुभ कर्म उपार्जित किये हैं। उन्हीं कर्मोंका नाम दैव भी है। इस दैवकी प्रेरणा से यह जीव सुख अथवा दुःख भोगता है, सो सुख तो मिला शुभ भावसे बँधे हुए पुण्यके उदयमें और दुःख मिला अशुभ भावसे बँधे हुए पापके उदयमें। सो साधारणतया यह बात योग्य है कि अशुभपरिणामोंको छोड़ कर शुभ परिणामोंका आदर करना चाहिए। लेकिन जिन योगीश्वरोंने शुभ और अशुभ दोनों ही उपयोगोंका विनाश करनेके लिए समस्त आरम्भ और परिग्रह पिशाचका परित्याग किया है ऐसे सत्पुरुष सत्पुरुषोंके द्वारा वन्दनीय हैं। लोकके जीव पापमें बड़े प्रवीण हैं। पाप करने की बडी बड़ी कलायें उन्हें याद हैं। झूठ बोलने की कला, चोरी करनेकी कला, अनेक पाप करनेकी कला। उनमें इसे बड़ी प्रवीणता मिली है। इसी कारण इन जीवोंमें से कोई पुरुष यदि शुभकार्य कर रहा हो, भक्ति, दया, दान, परोपकार आदिक तो उसे लोग भला कहते हैं। पर सर्वथा भले कल्याणकी मूर्ति तो वे पुरुष हैं जो शुभ अशुभ दोनोंको त्यागकर एक शुद्धोपयोगरूप अतस्तत्त्वमें लीन रहा करते हैं। उनकी महिमाका कोई दूसरा क्या वर्णन कर सकेगा? वे तो सत्पुरुषोंके द्वारा वन्दनीय हैं।

ज्ञानका प्रताप—भैया! सब कुछ ज्ञानका प्रताप है। जिन्हें 'वस्तु-

स्वरूपका बोध नहीं हुआ और पदार्थोंमें भेदविज्ञान प्रकट नहीं हुआ उनको कल्याणकी बात भली कैसे लग सकती है? उन्हें तो बाहरी प्रसंग धन वैभव ही प्रिय लगेंगे और जो कल्याणके प्रेमी हैं उनको यह आत्मतत्त्व ही प्रिय लगेगा। ऐसे योगीश्वरोंको ये आचार्यदेव बहुत-बहुत कहते आये हैं, सम्बोधते आये हैं। अब साधुताके प्रसंगमें उनके गुणोंका स्तवन कर रहे हैं। ऐसे साधुजन जो निरारम्भ और निष्परिग्रह हैं वे सत्पुरुषोंके द्वारा वदनीय हैं।

सुख दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्,
कुत प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं,
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदाधोमविस्थि ॥२६३॥

उत्कृष्ट आसीनता--संसारमें सुख या दुःख जो कुछ भी होता है वह जीवके पूर्व उपार्जित कर्मोंके उदयानुकूल होता है। सो कभी सुखमें प्रीति होती है तो कभी दुःखमें संताप माना जाता है और उन्हीं बातोंसे याने सुखमें प्रीति होने से, दुःखमें विषाद करने से नवीन कर्म बंधते हैं, पर जो महापुरुष सुखमें हर्ष नहीं मानते और दुःखमें विशाद नहीं मानते वे अब किससे प्रीति करेंगे और किसको आतापकारी मानेंगे। जिसे फासीका हुक्म होता है उस मनुष्यके सामने बड़ी बड़ी मिठाइयोंका थाल सामने रख दिया जाय और कहा जाय कि ले तू आनन्दसे खूब छककर भोजन करले तो क्या वह खायेगा? नहीं खायेगा। ऐसे ही जिन्हें कर्मोंका बन्धन विभावोंका बधन फासी जैसा लग रहा हो, क्या ऐसे जीवोंको ये इन्द्रियके सुख सुहावने लगेंगे? अरे वे तो विषाद मानेंगे। उन्हें जगत्‌में कुछ भी इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं रहा।

ज्ञान और वैराग्यका बल--भेदविज्ञानके विचारके कारण ज्ञानियोंके चित्तमें उदासीनता प्रकट होती है। जिसके पुराने कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं, नवीनकर्मोंका बध सकता है वे पुरुष महामणिकी तरह सदा प्रकाशमान् होते रहते हैं, इस कारण कैसा ही कष्ट आये ज्ञान और वैराग्यके बलसे वहाँ भी साधुजन कर्म निर्जरा का काम करा लेते हैं, दुःख नहीं मानते। आया है उदय उसके ज्ञाताद्रष्टा हो रहे हैं। अपने स्वरूपकी उनके सुध बनी रहती है। इसी कारण उनका सारा जीवन, सारी चर्या कल्याणविकासके लिए और कर्मोंके क्षयके लिए बनी हुई है, ऐसे सत् पुरुष हृदयमें विराजें और मेरे मनको पवित्र करें जिससे मेरे भी शिवपथ सुगम हो व विघ्नकारी विषयोंके परिणामोंसे बचकर हम अपनी स्वरक्षा कर सकें।

सकलविमलबोधो देहगेहेविनिर्यन् ,
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा ।
पुनरपि तदभावेप्रज्ज्वलत्युज्ज्वल: सन्,
भवति हि यतिवृत्तं सर्वथाश्चर्यभूमि:॥२६४॥

विमल सकलज्ञान– इस देहरूपी गेहमें निकला हुआ यह समस्त केवलज्ञान इस ही देहको भस्म करके और फिर उस देहके अभावमें भी यह उज्ज्वल होता हुआ खूब प्रज्वलित होता है, आश्चर्यका बड़ा समाचार है। काष्ठसे उत्पन्न हुई अग्नि काष्ठको जला देगी ऐसा तो माना जा सकता है पर काष्ठको जलानेके बाद राख हो जानेके पश्चात् उस काष्ठके अभाव में भी अग्नि जलती रहे, यह क्या आप मान सकते है ? लेकिन यह केवलज्ञानरूपी अग्नि ऐसी विलक्षण अग्नि है जो इस देह गेहमें रहते हुए प्रकट हुई, लेकिन इस देहघरको ही भस्म कर देगी और देहके न रहनेके बाद भी यह केवलज्ञान खूब प्रज्वलित रहता है, अर्थात १३ वे गुणस्थानमे केवलज्ञान हुआ, वहाँ तो देह है ही, सकलपरमात्मा शरीर सहित है और पश्चात् चारघातियाकर्म नियमसे दूर होंगे, तब देहका अभाव भी हो जायेगा तो देहका अभाव होने पर भी यह केवलज्ञान प्रज्वलित रहेगा याने सिद्ध भगवतोंका सदैव केवलज्ञान प्रज्वलित रहेगा।

सम्यक्त्वके पूर्वका ज्ञान– प्रथम तो इस जीवको ज्ञान प्रकट हुआ। जो ज्ञान है तो सच्चा, पर सम्यक्त्व न होने से उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान नहीं कहा है और है त्योंका त्यों। सात तत्त्वोंके सम्बन्धमें कुछ ज्ञान हो उससे ही तत्त्वका मनन करने पर सम्यग्ज्ञान होगा, तो सम्यग्दर्शन होनेसे पहिले जो ज्ञान है उसे न तो सम्यक् कह सकते, न मिथ्या कह सकते। यद्यपि सम्यक्त्वके अभावमें जितना ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान है, जो भी वह जानता है, किन्तु क्या सम्यक्त्वाभिमुख जीव वस्तुस्वरूपके विपरीत जानता है ? विपरीत तो नहीं जानता। सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहिले सम्यक्त्वके ही लिए जो ज्ञान बना है वह ज्ञान यथार्थ है, जैसा वस्तु है वैसा ही जानता है, पर सम्यक्त्वके पहिले उस ज्ञानमें सम्यक्पना नहीं आता।

दृष्टान्तपूर्वक सम्यक्त्वपूर्वभावी बोधकी विशेषताका वर्णन—जैसे हमने किसी विशिष्ट मूर्तिका वर्णन सुना है। जैसे केसरियाजीमें एक मूर्ति है सातिशय, हमने भी उसे नहीं देखा और कितने ही लोगों न देखा होगा, पर जो किताबोंमें उसके सम्बन्धमें लिखा गया है वह जो लोग देख आते हैं वे वर्णन करते हैं तो उनके वर्णनको सुनकर जो पुस्तकोंमें मूर्तिके सम्बंध

में लिखा है, इतनी लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई है, ऐसा अतिशय है, सब कुछ जान लिया किन्तु यह ज्ञान उस ज्ञानके समान दृढ और स्पष्ट नहीं है जो कि उस मूर्तिको निरखनेके बाद होता है। इन दो तरहोंसे देखने में अन्तर है। यही अन्तर सम्यक्त्व होनेपर ७ तत्त्वोंके ज्ञानमें और सम्यक्त्व से पहिले ७ तत्त्वोंके ज्ञानमें अन्तर है। पहिले ज्ञान प्रकट हुआ और उस ज्ञानके ही प्रतापसे सम्यक्त्व प्रकट हुआ।

केवलज्ञानकी शाश्वत वर्तना—अब सम्यक्त्वकी रुचि और सम्यक्त्वमें समझे गए निज आत्मतत्त्वके अनुभवकी उत्सुकतासे जो स्थिरता बनती है उस स्थिरतामें कुछ वैराग्य जगा, घर छोड़ा, देहसे भी नेह छोड़ा, समस्त परिग्रहोंका त्याग किया, वीतराग मुद्रा धारण की, अब ऐसी स्थितिमें यही उन योगिराजका कार्यक्रम है कि यह ज्ञान ही ज्ञान निर्मलप्रकाशमें बना रहा करे और इस ज्ञानप्रकाशकी सततवृत्तिसे यह ज्ञान केवलज्ञानरूप परिणम जाता है। केवलज्ञान हो गया। अब यह देहगेहमें विराजमान आत्मा केवलज्ञानी हुआ। यह केवलज्ञान इस देहगेहको भस्म करनेके बाद भी उस देहके अभावमें सदा प्रज्ज्वलित रहेगा।

गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते।
अतएव हि निर्वाणं शून्यमन्यर्विकल्पितम् ॥२६५॥

गुणकी अविनाशता—यह आत्मा गुणी है और यह ज्ञानादिक अनन्त गुणोंमें तन्मय है। ज्ञानादिक गुणोंके नाश होनेका अर्थ यह होगा कि इस गुणी आत्माका भी नाश हो गया, किन्तु जो सिद्ध है उसका सर्वापहार लोप कभी नहीं होता। कुछ लोगोंकी ऐसी मान्यता बन गई है कि ज्ञानके सम्बंध में कि अपनी योग्यतानुसार ज्ञानका स्वरूप समझकर और फिर सिद्धमें इस प्रकारका ज्ञान होता नहीं देखकर जीवोंमें निर्वाणदशामें ज्ञानका अभाव हो जाता है। ऐसी ज्ञानशून्यनिर्वाणकी मान्यता बन गयी है, पर जिसे हम आप ज्ञान कह रहे हैं, जिस विकल्परूप जाननको ज्ञान बताते हैं वह विकल्परूपजानन ज्ञानकी शुद्धवृत्ति नहीं है। वह रागद्वेषके सम्पर्कके कारण हुई वृत्ति है। उसका नाश होनेसे न ज्ञानका नाश होता है, न आत्माका नाश होता है।

निर्वाणमें परिपूर्णता—अन्य जनोंने इस ज्ञानसे रहित स्थितिका नाम निर्वाण मान लिया है। किन्तु यह ज्ञान तो आत्माका सहजस्वभाव है। यह आत्माका ज्ञानमय है, ज्ञानको छोड़कर आत्मा अन्य कुछ नहीं है। जैसे गर्मीके अभावमें गर्मी किसका नाम है ? अरे गर्मीको छोड़कर अग्नि कुछ नहीं है। ऐसे ही आत्मा सत ज्ञानमय ही रहा करता है। उस ज्ञान

की पूर्णताका नाम मुक्ति है। कहीं ज्ञानके अभावका नाम मुक्ति नहीं है। जो मेरा स्वभाव है, मेरी चीज है वही एक निर्दोषरूपसे प्रकट हो जाती है इसीका नाम निर्वाण है।

प्रभुस्वरूपकी स्वभावसिद्धता—जैसे कोई कारीगर पत्थरमें से मूर्ति नहीं बनाता किन्तु कुछ तोड़ फोड़ करता है। मूर्ति तो उसके अन्दर है, वह कारीगर तो मूर्तिके ढकने वाले आवरणोंको छेनी हथौड़ा आदिसे हटाता है। मूर्ति तो स्वयं उसमें बनी बनाई है। वही तो वहाँ प्रकट होती है। बनानेका काम नहीं है किन्तु हटानेका काम पड़ा है। रागद्वेष शोक हास्य प्रीति मोह- ये सारे ऐबके पत्थर मेरे अगल बगल लगे हैं, मेरे आत्म-प्रदेशोंमें मिल रहे हैं, जिस किसी भी प्रकारसे इन आवरणोंको हटाया जा सके हटानेका प्रयत्न करना चाहिए। वह यत्न है निजसहजस्वभावका आलम्बन। केवल चित्सामान्यस्वभावको निरखें, जो है उसे यथार्थ जानें। बस अलावला दूर हो जायेगी। जब सभी विभाव दूर हो जायेंगे तब सिद्धकी स्थिति हो जायेगी, निर्मल केवलज्ञान परिपूर्ण प्रकट हो गया तो यह स्थिति बन जाती है। तो सिद्धपदमें नाशकी बात नहीं है किन्तु परिपूर्णताकी बात है। यह आत्मा ज्ञानादिक गुणोंसे तन्मय है। ज्ञानादिक गुणोंके विकास का काम परमात्मअवस्था है और ज्ञानादिक गुणोंके आवरणका नाम यह छद्मस्थ अवस्था है।

परमात्मा शब्दमें संख्याका संकेत—परमात्माके सम्बंधसे सभी लोग २४ संख्याको बहुत पसंद करते हैं। जो अवतार मानते हैं वे ईश्वरके २४ अवतार मानते हैं, और-और भी लोग किसी न किसी रूपमें २४ संख्या मानते हैं। कोई २४ अवताररूपमें, कोई पैगम्बररूपमें। जैनशासन भी २४ तीर्थंकर मानता है। प्रत्येक चतुर्थकालमें २४ तीर्थंकर होते हैं। न कम न अधिक होते हैं। खैर, इस सम्बंधमें एक अक्षरोंपर हिसाब लगाओ। बिना लकीर खींचे परमात्मा लिखो। "परमात्मा" इसमें ५ जैसा बन गया, र दो जैसा बन गया, मा साढ़े चार जैसा बन गया, आधा त (त्) ८ जैसा बन गया और मा साढ़े चार जैसा बन गया। इन सबको जोड़कर देख लो ५ जमा २ जमा ४॥ जमा ८ जमा ४॥ बराबर २४ हो गए। इस परमात्मा शब्दमें २४की संख्या बसी है। यद्यपि परमात्मा अनन्त हैं, फिर भी ये जो २४ तीर्थंकर हैं ये विशेषरूपसे धर्मकी प्रवृत्ति करने वाले हैं, अत: तीर्थंकर २४ हैं।

परमात्माका अर्थ—परमात्माका अर्थ है— जो आत्मा परम अर्थात् उत्कृष्ट हो गया, सो परमात्मा। और जो मूढ़ आत्मा हो उसे कहते हैं। मूढ़ा-

त्मा। परा मा लक्ष्मी' विद्यते यत्र स परम'। जहाँ उत्कृष्ट लक्ष्मी हो उसे परमा कहते है। लक्ष्म, लक्ष्मी, लक्षण ये तीनों शब्द एकार्थक हैं। आत्मा का लक्ष्म, लक्ष्मी, लक्षण है ज्ञान। तो उत्कृष्ट ज्ञान जहाँ प्रकट हो गया हो उसे कहते हैं परम। और परम आत्माका नाम है परमात्मा। जो भी आत्मा इन ज्ञानादिक गुणस्वरूप निजअन्तस्तत्त्वका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करता है वह इस शुद्ध ज्ञायकको अनुभूतिके प्रसादसे सर्वविभावों से दूर होकर उत्कृष्ट ज्ञानमय हो जाता है ऐसी स्थिति जिनकी हुई है उन्हें परमात्मा कहते हैं। परम आत्मपनेकी ऐसी किसीको परमिट नहीं मिली है कि यह ही परमात्मा कहलायेगा दूसरा नहीं। जो भी आत्मविभाव को हटा ले, परम हो जाय वही परमात्मा कहलाता है।

गुणार्चन और नामार्चन—जैनदर्शनमें किसी नामकी पूजा नहीं है, गुणोंकी पूजा है। भगवानका भी नाम नहीं है— पर जिस नाम द्वारा व्यवहार देहमें विराजमान आत्मा ज्ञानमय होकर केवली हो गया, व्यवहारमें वहाँ भगवानका नाम लेते हैं अथवा जैसे एक ही किसी चीजका खेल, चाहे ताशका ही खेल समझ लो तो उसमें कठिन भी खेल होते हैं और सरल भी खेल होते हैं, कठिन पद्धतिके खेल जिनसे नहीं बनते वे सरल पद्धतिके खेल खेलते हैं, उल्टा डाल दिया, उलट दिया, खोल दिया, रंग मिल गया तो जीत गए, न मिला, तो हार गये। बतावो ऐसे खेलमें कुछ विशेष बुद्धि भी लगती है क्या? जो कठिन खेल जानते हैं वे उस पद्धतिका खेल खेलते हैं। ऐसे ही ज्ञानकी उपासनामें जो एक अपने आत्मामें आत्मज्ञानविहारका कौतूहल है उस ज्ञानविहारके कार्यक्रममें जो तत्त्वज्ञानी मर्मज्ञ पुरुष हैं वे स्वभावदृष्टि करके, निश्चयदृष्टि करके, ज्ञानके शुद्ध स्वरूपको निहार कर उस ज्ञानमें रमा करते हैं। पर वही ज्ञानी पुरुष इतना अधिक काम करके थक जायें तो भगवानका नाम लेकर चारित्रके गुणोंका ज्ञान करके अपने ज्ञानविहारको करते हैं। अथवा जो अपनी अद्भुत महिमामें प्रवेश नहीं कर पाये हैं वे पुरुष प्रभुका नाम लेकर, चारित्र गाकर, गुणानुवाद करके इस ज्ञानमें विहार करते हैं।

गुणमय गुणीकी उपासना—वस्तुत: परमात्माका काम नहीं होता। परमात्माका तो स्वरूप होता है जो शुद्ध निर्दोष चैतन्यप्रकाश है उसे परमात्मा कहते हैं। इस परमात्मामें, जो ज्ञानादिक गुण हैं वे उत्कृष्ट विकास को प्राप्त हो जाते हैं। कहीं ज्ञानादिक गुणोंका विनाश नहीं हो जाता। हे साधुजनों! गुणमय गुणी ब्रह्मकी उपासना करके शान्ति प्राप्त करो, इस ग्रन्थमें साधुवोंको संयममें स्थिर करनेके लिए बहुत-बहुत प्रकारसे सम्बोधा

गया है। अब इस अन्तिम प्रकरणमें उनका गुणानुवाद करते हुए तपस्या के फलमें आखिर मिलता क्या है, उस सिद्धपदकी कुछ चर्चा कर रहे हैं।

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देहमात्रो मलैर्मुक्त. गत्वोर्ध्वमचलः स्थितः २६६॥

पर्यायोंका ग्रय विलय—यह आत्मा अजात है। यह कभी उत्पन्न नहीं होता, यह स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप है, सनातन है। इसके किसी भी विस्तार को कोई प्रकट नहीं कर पाता। प्रत्येक पदार्थ अनादि सिद्ध है। यह आत्मा भी अजात है। आत्मामें जो परिणतियाँ होती हैं उन्हें जात कह सकते हैं। वे उत्पन्न होती हैं और अगले क्षणमें विलीन हो जाती हैं। कैसे विलीन हो जाती हैं? वे परिणतिया द्रव्यसे बाहर भी नहीं गयीं और वे परिणतियां द्रव्यमें भी अब नहीं रहीं। भला ऐसा कभी देखा कि वस्तु बाहर भी न जाय, वहा भी न रहे और वस्तुका अभाव कहलाये? कमरे में घड़ा रक्खा है, वह घड़ा कमरेसे बाहर भी न जाय और कमरेमें भी न रहे और घडेका अभाव कहलाये ऐसी कोई स्थिति है क्या? आप कहेंगे फोड़ दिया तो उस कमरेमें भी नहीं रहा और बाहर भी नहीं गया। अरे तो जो रहा उसकी चर्चा कर लो। खपरियां बन गयीं। ये खपरिया भी न रहें इस प्रकारका अभाव देखा है क्या? खपरियोंका प्रत्येक पदार्थ का जो भी परिणमन होता है वह अगले क्षणमें विलीन हो जाता है। द्रव्य में देखो तो न मिलेगा और द्रव्यके प्रदेशोंको छोड़कर बाहर भी कहीं नहीं गया।

आत्मतत्त्वकी अजातता व अविनश्वरता—पर्यायोंको तो जात कह सकते हैं, किन्तु उन पर्यायोंका आधारभूत, उपादेयरूप जो शाश्वत पदार्थ है वह अजात है। यह आत्मा अविनाशी है, न मिटने वाला, अपने आपमें सदैव रहने वाला है। किसी भी क्षण इसका वियोग संभव नहीं है ऐसा यह ज्ञानपुञ्जपदार्थ मुझमें है। मुझमें क्या मैं ही हू। ये ज्ञानी पुरुष इस ही पुरुषार्थके प्रतापसे सदैवके लिए आनन्दसम्पन्न हो जाते हैं। यह मैं आत्मा अविनाशी हू। कुछ ध्यान तो लावो। इस अविनाशीपनेका फिर इस सांसारिक परिस्थितिके कारण जो वेदना हुआ करती थी अब वेदना उत्पन्न न होगी।

आत्माका अमूर्तत्व, कर्तृत्व व भोक्तृत्व—यह आत्मा अमूर्त है। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि होनेका नाम मूर्तपना है जितने भी बाह्यपदार्थ दिखते हैं वे सब मूर्त हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्शयुक्त हैं। यह आत्मा सबसे जुदा है, अविनाशी है, अमूर्त है। यह आत्मा कर्ता है। किसका कर्ता है? अपने

आपके भावोंका कर्ता है। यह कर्तृत्व निरन्तर सतत चलता रहता है। एक क्षण भी एक आधसेकेण्ड भी यह कर्तृत्व दूर नहीं होता। जो परिणमे उसका नाम कर्ता है। परिणममान पदार्थको कर्ता कहते है और जो परिणमन उस परिणमनका जो अनुभव करता है उसे भोक्ता कहते हैं। देखो— यह जीव निरन्तर कर्ता व भोक्ता बन रहा है या नहीं? जो भी परिणमन होगा उस परिणमनका अविनाभावी जो भी आनन्द शक्तिका परिणमन होगा, सुख दुःख अथवा आनन्द होगा उसको यह जीव निरन्तर भोगता है, अनुभव करता है।

आत्माकी शुद्धता—यह आत्मा बुध है, ज्ञानी है। ज्ञान ही इसका शरीर है, यह ज्ञानपुञ्ज ही एक आत्मा है। ज्ञानसे किसी भी दृष्टिमें यह रहित नहीं है। जो ज्ञान है सो आत्मा है। यह आत्मा देहमात्र है, जितना जिसे शरीर मिला है वह अपने इस शरीरके परिणाममें विस्तार वाला है। यह जीव अनादिकालसे इस देहमें रहता आया है। जब ये देह मिलना छूट जायेगा तो आत्मा मुक्त हो जायेगा। यह आत्मा सर्व मलोंसे मुक्त है, रागादिक भावोंसे रहित है और यह अचलस्वरूपसे अचलायमान हो कर ऊपर जाकर स्थित हो जाता है। सिद्ध लोकमें ये सिद्ध भगवत विराजमान हैं। ये प्रभु सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता प्राप्त करके मुक्त होकर लोकके ऊपर विराजमान होते हैं।

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत सुखं यदि तपस्विनाम्।
स्वाधीनसुखसम्पन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ॥२६७॥

सिद्धसुखका अनुमान—जब कि स्वाधीनतासे दुःख भी सुखरूप हो जाता है तब जिसको अनन्त सुख मिला है ऐसे सिद्ध प्रभु क्यों न सुखी कहलायेंगे? परकी आशा, परकी प्रतीक्षा, परवस्तुपर निर्भरताकी स्थितिमें इस जीवको सुख भी मिले तो भी दुःख है और स्वाधीनतासे रहते हुए दुःख भी आ पड़े तो वह दुःख भी उस मनस्वीको सुख रूप मालूम होता है। इस बातको तो आप अपने जीवनमें भी घटित कर सकते हैं। अपने आप अपने ही कारण कुछ दुःख हो जाय तो उसे महसूस नहीं करते। जैसे साइकिल चलाने वाला अपनी गलतीसे गिर जाय तो चाहे कितनी ही चोट आ गयी हो पर वह दुःख नहीं महसूस करता है। जल्दी ही उठ कर हँसता हुआ भाग जाता है और यदि किसीसे टक्कर खाकर गिर गया तो वह उस पर झुंझलाता है, विवाद करता है। अपने अपने घरोंमें भी देख लो—किसी दूसरेके आधीन रहकर थोड़ा सुख भी मिले तो वह उस सुखमें सन्तुष्ट नहीं है और यों अपने आप कितना ही दुःख आ पड़े तो

उस दुःखके सहन करने की शक्ति बनाये रहते हैं, उसमें ज्यादा दुःखी नहीं होते।

साधुवोंकी स्वाधीनता—साधु संत पुरुष सदैव स्वाधीन हैं, वे वनमें रहते हैं, स्वाधीन विचरते हैं, स्वाधीन निवास करते हैं, अपने पदके अनुकूल चर्या करते हैं, उस स्थितिमें भूख प्यास इत्यादिका कोई भी दुःख आ जाय, अथवा किसी दुष्ट मनुष्य द्वारा सताये जायें तो वे सर्वस्थितियों में साहस करके सहन करते हैं।

गृहस्थोंके भी स्वाधीन दुःखकी सुखरूपता—घरमें रसोई बनाने वाला नहीं है, आप अकेले हैं तो जब चाहे जैसा चाहें बना खा लेते हैं, क्यों कि आप स्वाधीन हैं। उसमें कितने भी दुःख आयें, उन दुःखोंको आप महसूस नहीं करते और कोई निमंत्रण कर जाय १० बजेका और ११ बज जायें तो आप बड़ा दुःख महसूस करते हैं। स्वाधीनतामें जो दुःख आया वह भी सुखरूप लगता है। पराधीनतामें थोड़ा विलम्ब हो या अल्प सुख मिले तो वह सब दुःखरूप हैं।

साधुवोंकी तृप्ति व स्वाधीनता—साधुजन आत्मदर्शनसे ऐसे तृप्त रहा करते हैं कि उनको स्वाधीनता ही प्रिय है और उस स्वाधीनतामें उन्हें सब कष्ट मंजूर हैं। आत्मानुभवमें विघ्न आये अथवा विषय कषायोंमें उपयोग लगने लगे तो वह असह्य होता है। साधुजन आत्मानुभवमें बीच बीच जो कष्ट भी आते हैं उन्हें भी सुखरूप मानते हैं। तो भला जिसको स्वाधीन अनन्त सुख मिला हुआ है ऐसे सिद्ध भगवंत क्या सुखी नहीं हैं? अरे वे तो परम सुखिया हैं। परमार्थसे निरखो जो अज्ञानी जीव हैं वे तो दुःखी हैं और जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव हैं वे सुखी हैं और उनमें भी जो संयमी पुरुष हैं वे विशेष सुखी हैं। तब जो सिद्ध हुए हैं, स्वाधीन हुए हैं उनको तो सर्वाधिक अनन्त सुख है।

ज्ञानकलापर सुख दुःखकी निर्भरता—जिस चाहे स्थितिमें अपनेको चाहे दुःखरूप अनुभव कर डालो और चाहे सुखरूप। न कुछ सुख है, न कुछ दुःख है। आप दुःखकी जितनी स्थितियां सोच सकते हैं सोच लीजिए, उन स्थितियोंमें भी आप आत्मतत्त्वकी दृष्टिसे वैराग्य बनायें तो वहाँ आप सुख पायेंगे। आप मनकी स्वच्छन्दता करके कितनी ही कल्पनाएँ करके दुःख बना डालें, लाभ उससे कुछ नहीं है बल्कि आप नुकसान ही अपना करते चले जा रहे हैं। आपके यहां चोरी हो जाय, अथवा व्यापार में टोटा पड़ जाय तो आप चाहे ऐसी दृष्टि बना लें कि दुःखी हो जायें और चाहे ऐसी स्थिति बना लें कि सुख अनुभव करें। और आप भी खूब

हो रही हैं, काम भी ठीक चल रहा है, पर आप चाहे अपने को कल्पनाएँ करके दु खी बना डालें चाहे उदारबुद्धि करके अपने को सुखी अनुभव कर लें।

संसारमें सुख दु खकी अनिर्णीतता—किसका नाम सुख है और किसका नाम दु ख है ? किसीके पास लाखोंका धन है, सब प्रकारके अच्छे साधन हैं पर ख्याल बना बनाकर तकिये गद्दों पर पड़ा हुआ भी अपने को दु खी अनुभव कर सकता है। आपका शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है पर अपने देह को निरखकर कल्पनाएँ बनाकर कहो आप अपने को दु खी कर डालें। अरे अमुक पहलवान ऐसा है हम न ऐसे हुए। अमुक तो इतना हृष्ट पुष्ट है, हम उतने हृष्ट पुष्ट नहीं हैं— यों ख्याल बनाकर कहो आप अभी दु खी होलें। ज्ञानकी बात ले लो, थोड़ा ज्ञान है, पर कामचलाऊ अच्छा है, धर्मध्यान भी हो रहा है। कुछ चर्चा वार्ता भी करते हैं जितनी योग्यता है, पर मान प्रतिष्ठा नहीं हो रही है, लो अपने से अधिक ज्ञानवालोंको निरखकर ख्याल बनाकर दु खी हो जाते हैं। मुझे अमुक जैसा ज्ञान न मिला, अमुकके तो बड़ा ज्ञान है, बड़ी इज्जत है, हमारी कोई पूछ नहीं करता है, लो इस प्रकारका ख्याल बनाकर दु खी हो रहे हैं। अथवा कोई विशेष पूछ नहीं करता तो यह ख्याल बनाकर दु खी होते कि हमने तो अमुक डिग्री पास की, इतने विद्वान् हैं, सब कुछ है पर लोग हमारी पूछ नहीं करते हैं, हमारी बातें भी नहीं सुन रहे हैं, लोग यही सोचते होंगे कि इनकी बातोंमें दम नहीं है। यों दसों विकल्प बनाकर बहुत ज्ञान पानेके बावजूद भी कहो अपने को दु खी अनुभव कर डालें।

धनिकके दृष्टान्तपूर्वक सुख दु खकी अनिर्णीतताका वर्णन—भैया ! यहाँ ऐसी कोई स्थिति नहीं है जहाँ सुख अथवा दु खका टिकाव हो। आप कितने धनसे अपने को सुखी मानेंगे ? क्या तीन लाख हो जायें तो उससे आप सुखी हो जायेंगे ? अरे उससे अधिक धन वालों पर दृष्टि डालकर आप अपनेको दु खी अनुभव करेंगे। क्या है, मेरे पास कुछ नहीं है। अमुक तो इतना धनी है, यहाँ आप किसे धनी कहेंगे ? ऐसे ही सुख दु ख होनेका इस जगतमें कोई निर्णय नहीं है। कोई ऐसा निर्णय नहीं दे सकता कि इस प्रकारकी यहाँ स्थिति हो जाय तो सुख है। और ऐसी परिस्थिति हो जाय तो वह दु खी है। कितना वैभव हो जाय तो आप सुखी करार कर सकते हैं ? सुखी दु खी होना तो खुदके परिणामोंकी बात है। कितने ही जगह देखनेको मिलता तो है कि किसीके पास धन बहुत है पर उसके दिल की बीमारी है, खाट पर पड़ा रहता है, डाक्टर लगे रहते हैं। वह काहेकी

बीमारी है ? वह है गमकी बीमारी। इसमें अधिक मुनाफा नहीं हो सका, इसमें ५ लाखका टोटा हो गया, इसमें ७ लाखका टोटा हो गया। सारा जीवन दु:खमय व्यतीत होता है। तो कितना धन वैभव हो जाने पर आप अपने को सुखी करार कर सकते हैं। सुख दु:ख तो अपने ज्ञान अज्ञान पर निर्भर हैं।

स्वाधीन दुःखमें भी सुखरूपताकी अनुभति--मुनिजन स्वाधीनतासे दु:ख भी भोगते। किन्तु उनके दु:ख सुखरूप हो जाते हैं। वे अपनेको दु:ख आनेपर भी सुखी अनुभव करते हैं। कभी टिकटघरमें टिकट खरीदने के लिए आप लाइनमें खड़े होते हैं तो जब टिकट पानेका नम्बर आये तब आये पर आप स्वाधीन होनेके कारण सतुष्ट हैं, किन्तु यदि आपके आगे कोई आकर खड़ा हो गया तो आप उसमें दु:ख महसूस करेंगे। क्योंकि आपने वहां पराधीनता अनुभव कर ली। तो शान्ति अपनी स्वाधीनतासे मिलती है। जब स्वाधीनताका भाव बनता है तब सारे दु:ख सुखरूपमें मालूम होने लगते हैं। अब आप खुद रसोई बनायें, दालमें नमक अधिक गिर जाय तो भी आप दु:ख नहीं मानते, और अगर किसी दूसरेके हाथसे दालमें नमक ज्यादा पड़ गया तो आप दुःखी हो जाते हैं।

स्वाधीनता व पराधीनताका अन्तर—जब स्वाधीनतामें कुछ दु:ख भी आयें तो वह सुखरूप मालूम होता है और पराधीनतामें कुछ सुख भी मिले तो भी आप उसे दु:खरूप अनुभव करेंगे, तब कर्तव्य क्या है कि आप सुखी हो जायें। कितना धन कमा लिया जाय, कितनी पोजीशन बना ली जाय तो उससे आप अपनेको सुखी मानेंगे ? अपने आपमें स्वाधीनताका अनुभव करोगे तब सुखी होंगे। बाहरी स्थितियोंसे सुखका अनुभव नहीं हो सकता।

इति कतिपय वाचां गोचरीकृत्य कृत्यं,
चरितमुचितमुच्चैश्चेतसा चित्तरम्यम्।
इदमविकलमन्तः सतत चिन्तयन्त:,
सपदि विपदपेतामाश्रयन्तु श्रियं ते ॥२६८॥

रम्य कृति--कितने ही वचन रचनावोंसे उदार हैं चित्त जिनका ऐसे महामुनियोंको उनके चित्तको जो रमा लें, निर्दोष हो ऐसी यह कृति आत्मानुशासन नामकी रची है सो ठीक ही है। महापुरुषोंके गुण गानेसे, निरन्तर चिन्तवन करनेसे शीघ्र ही आपत्ति रहित होकर अविनाशी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। जैसा ध्यान बनायें तैसा ही अपने आपपर प्रभाव होता है। प्रभाव दूसरेका नहीं होता। खुदका जैसा ध्यान बना जैसा उपयोग

बना उसका प्रभाव है। हर स्थितिमें देख लो।

स्वयका स्वयपर प्रभावका एक दृष्टान्त—कोई अनपढ देहाती मनुष्य शहरमें या किसी सरकारी दफ्तरमें जाकर भयशील रहता है तो क्या भीतोंने उसे भयशील बना दिया ? अरे उसमें जैसी योग्यता है, जैसा उसका उपादान है उसके अनुकूल अपने आपमें अपने विचार बनाकर वह भयशील बन रहा है। और जो समझदार लोग हैं, चतुर हैं वे कहीं भी जाकर कोई काम करते हों तो निर्भय होकर करते हैं। वे तो जानते हैं कि सब अपना ही काम है, इसमें डरकी क्या बात ? सो वे समझदार पुरुष रंच भी भय नहीं करते। यह भयशील होनेका प्रभाव किसी अन्य पदार्थसे उस देहातीपर नहीं पड़ा, उसने स्वय अपनेमें उस अनुकूलका ध्यान बनाया उसका यह प्रभाव हुआ। तो गुणी पुरुषोंके गुण अथवा आत्मतत्त्वका स्वरूप जो कि निराकुल है, सहज प्रकाशमय है वह दृष्टिमें होनेसे यह जीव आनन्दित होता है और दुष्ट, अवगुणी, पापकारी और नानारूप संग अथवा अनुभव होनेसे यह स्वय मलिनता हो जाती है और उसमें कष्ट होता है।

गुणप्रियता—गुणी जनोंके गुण ही हृदयमे रहा करें तो उसमें भला है। किसीके दोष कहनेमें या दोषियोंके दोषपर दृष्टि बनाते रहनेमें खुद का तो भला न होगा। खुदकी प्रकृति ऐसी होनी चाहिए कि गुणियोंको देखकर अथवा कोई चिन्तन करके अपनेमें हर्ष भावना जगे। दोष देखने की दृष्टिमें तो जीव स्वयं खेदखिन्न हो जाता है, मिलता कुछ नहीं है। महापुरुषोंका ध्यान अपने आपमें एक अद्भुत प्रभाव लाताहै और जिस प्रकारका जो ध्यान करता है वह उस प्रकारका फल प्राप्त करता है। महापुरुषोंके गुण विचारें तो हम आप भी शुद्ध हो जायें। जैसे सुगंधित पुष्पके सम्बधसे तेल भी सुगधित हो जाता है ऐसे ही गुणी पुरुषोंके गुणोंका चिन्तवन करनेसे यह विकारी भी स्वच्छ और उन्नत हो जाता है।

जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम् ।
गुणभद्रभदन्ताना कृतिरात्मानुशासनम् ॥२६९॥

रचयिताकी हार्दता व कृति—यह आत्मानुशासनकी कृति गुणभद्राचार्य द्वारा रचित है। कैसे थे वे गुणभद्राचार्य ? जो सम्यग्दृष्टि पुरुषोंकी सेनाके समूह आचार्य याने जयसेनाचार्यगणधरादिक हैं जिनके शासन में गुणभद्राचार्य भदन्त हुए हैं, जिनका चित्त उन्हींकी ओर बना हुआ है अथवा जयसेनाचार्य उनके गुरु होंगे, उनके पादस्मरणमें जिनका चित्त बना रहता था, जो आचार्यके गुणोंको निरखकर प्रसन्न रहा करते थे ऐसे गुण-

भद्रस्वामीकी यह आत्मानुशासन ग्रन्थकी कृति है। उपदेशी ग्रन्थोंमें इस आत्मानुशासन ग्रन्थकी प्रधानता है। इसमें विशेष स्थलोंपर पढ़ते हैं तो चित्तमें एक ऐसी उत्सुकता जगती है कि समस्त रागद्वेषमोहादिकको छोड़कर एक इस अपने आत्मस्वरूपमें लगें। ऐसा यह पवित्रग्रन्थ गुणभद्राचार्यस्वामीका रचा हुआ है जिनका हृदय आचार्यों और गणधरदेवोंके गुणोंके सदा आधीन रहा। अब इस ग्रन्थमें एक अन्तिम कल्याणभावनाके रूपमें एक श्लोक कह रहे हैं।

ऋषभो नाभिसूनुर्यो भूयात् स भविकाय वः।
यज्ज्ञानसरसि विश्वं सरोजमिव भासते ॥२७०॥

इस युगके धर्मके मूलप्रणेताका अभिवादन—नाभि राजाके पुत्र ऋषभदेव सबके कल्याणके निमित्त होवो, जिनके ज्ञानरूपी जलमें समस्त जगत कमलकी तरह भासमान होता है। जैसे जल तो विशाल है, और कमल कितनीसी जगहमें ठहरा है, ऐसे ही जिनका ज्ञान तो विशाल है और यह लोक कितनी जगहमें ठहरा हुआ है—ऐसे नाभिराजाके पुत्र भगवान ऋषभदेव हम आप सबके कल्याणकारक होवो। ऋषभदेवका कितना महान् उपकार था जिसकी ही वजहसे ब्रह्माके रूपमें, शंकरके रूपमें उन ऋषभदेव को ही माना जाने लगा। इस युगके आदि धर्मतीर्थ प्रवर्तक ऋषभदेव हैं। उनके गुणोंका निरन्तर स्मरण रहे, जिससे हम आप सब कल्याणके पात्र हो सकें।

❀ आत्मानुशासन प्रवचन छठा भाग समाप्त ❀

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

❀ शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ❀

यस्मिन् सुधाम्निनिरता गतभेदभावा, प्रापुर्लभन्त अचल सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्ध चिदस्मि जपतो निजमूलमन्त्र, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतन्त्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पा, शुद्ध चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् २॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरसमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
सद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनन्दशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निःशेषविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्ध चिदस्मिसहज परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधि ।
यद्दर्शनात्प्रभवतिप्रभुमोक्षमार्ग, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः ।
सहजानन्दसुवन्द्य स्वभावमनुपर्ययं याति ॥